हो सकता है, जिसके लिए न सेना की अपेक्षा रहती है और न रण-यात्रा की ।

सन्दर्भ

१ उत्तरज्झयणाणि ९।३४
२ आयारो ३।३।५५
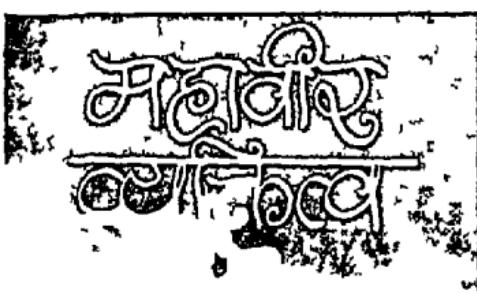
साध्वी कनकश्री
महावीर

आशीर्वचन

भगवान् महावीर इस युग के चौवीसवें धर्म-प्रवर्तक हैं। उनका व्यक्तित्व और कर्तृत्व नि सीम है। शब्दो मे इतना सामर्थ्य ही नही है कि वे उसे अभिव्यक्ति दे सकें, फिर भी अभिव्यक्ति का दूसरा माध्यम न होने के कारण लेखक और कवि अपनी क्षमता और सामग्री के अनुरूप उसको उजागर करने का प्रयत्न करता है।

साध्वी कनकश्री ने भी अपनी लेखनी की नोक से भगवान् महावीर के दर्शन की स्पष्ट या अस्पष्ट आकृति उतारने का प्रयत्न किया है। प्राञ्जल भाषा और सुबोध शैली रूप तटो मे भगवान् महावीर के व्यक्तित्व, कर्तृत्व और दर्शन की त्रिवेणी 'भगवान महावीर व्यक्तित्व और विचार' इस अभिधा से सकलित निबन्ध-सग्रह में प्रवाहित हो रही है। सुधी पाठक इसके माध्यम से महावीर-दर्शन की गरिमा और गभीरता से परिचित होकर लेखिका के श्रम को सार्थक करेंगे तथा अपने जीवन को भी तदनुरूप मोड देने का प्रयत्न करेंगे, ऐसा विश्वास है।

सुजानगढ
२६ फरवरी, १९७८

आचार्य तुलसी

प्राथमिकी

महासिन्धु को देखने का एक ही कोण नही होता। हजारो-हजारो लोग उसे नाना कोणो से देखते हैं और सब उसे अनत अनुभव करते हैं। महान आत्मा का जीवन भी ऐसा ही होता है। उसकी प्रत्येक दिशा अनत होती है। मनुष्य जानता है कि अनत का अत उपलब्ध नही हो सकता है, फिर भी वह अनत के अत पाने के लोभ का सवरण नही कर पाता। साध्वी कनकश्री जी भी अपने लोभ का सवरण नही कर सकी। फलत अप्राप्य को मापने का उनका प्रयत्न जनता के सामने प्रस्तुत है। इस प्रयत्न मे उनकी निष्ठा मुखर हुई है और वाच्य साकार। उन्होने भगवान् महावीर को व्यक्तित्व और विचार के कोण से देखा है। अच्छा होता यदि वे भगवान् को अनुभव के कोण से देखती। महावीर अनुभव के धरातल पर जिए थे। विचार से निर्विचार और विकल्प से निर्विकल्प के तल पर उनके अनुभव प्रस्फुटित हुए थे। अनुभव के स्तर पर पहुचकर अनुभव को पकडना सबके लिए सुलभ नहीं होता। इसीलिए अनुभव को भी विचार का परिवेश देना होता है। सभव है यही पथ अपनाया गया हो।

प्रस्तुत पुस्तक की भाषा प्राजल और प्रतिपाद्य स्पष्ट है। साध्वी कनकश्री जी अपने प्रयास मे सफल हुई हैं। भगवान् महावीर को देखने-परखने और समझने मे यह पाठक को निश्चित ही सहयोग देगी।

सुजानगढ   मुनि नथमल

१७ फरवरी, १९७८

स्वकथ्य

साधना, अध्ययन एव अनुशीलन जहा व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास मे योगभूत वनते हैं, वहा उसकी अभिव्यक्ति के सक्षम माध्यम हैं वक्तृत्व और लेखन।

साधना मेरे जीवन का अभिन्न अग है ही, अध्ययन भी मेरी रुचि का विषय रहा है। परम श्रद्धास्पद गुरुदेव के श्रीचरणो मे वैठकर मुझे लम्बे समय तक अध्ययन-अनुशीलन का अवसर भी मिला। भाषण के प्रति अत्यधिक रुझान नही होते हुए भी मैंने उसकी उपेक्षा नही की। लेकिन लेखन के प्रति मैं सदा उदासीन ही रहा करती थी। आचार्य-प्रवर ने अनेक वार मुझे लिखने के लिए प्रेरित भी किया, पर न जाने क्यो, चाहते हुए भी मैं प्रभु की असीम अनुग्रह भरी उस प्रेरणा को क्रियान्वित नही कर सकी। सभवत अन्तर्मन मे निर्मित ग्रन्थिया ही इसका कारण हों।

वि० स० २०२१, वीकानेर चातुर्मास। महासभा द्वारा आयोजित 'जैन दर्शन और सस्कृति परिपद्' मे मेरे सभी सहपाठी साधु-साध्वियो ने शोध-प्रवध लिखे-पढे। मैंने नही पढा। आचार्यवर ने इसके लिए कडा उलाहना दिया और शोध-प्रवध न पढने का कारण पूछा।

मैं रुधे-से स्वर मे इतना ही कह पायी—"मैंने लिखा तो था "

आचार्यश्री की अन्तर्वेधी दृष्टि ने मेरे मानस को पढ लिया। मुझे निकट वुलाया। हृदय का असीम वात्सल्य उडेलते हुए, अपने हाथ से 'कवल' प्रदान किया और कहा—"अव लिखने मे गति करनी है।"

तव से लेखन के प्रति मेरी झिझक कम होने लगी और मैंने कुछ-कुछ

लिखना प्रारम्भ कर दिया।

सम्वत् २०२३ बीदासर चातुर्मास। श्रद्धास्पद गुरुदेव के सान्निध्य मे नव सम्पादित 'आयारो' की वाचना का क्रम चला। वाचना मे सम्मिलित होने वाले साधु-साध्वियो के लिए, प्रत्येक अध्ययन की परिसमाप्ति पर एक निवध लिखना अनिवार्य था, अन्यथा वह वाचना मे सम्मिलित नही हो सकता था। अव तो मेरे लिए न लिखने का कोई विकल्प ही नही रहा। मैं जैसे-तैसे लिखती और अपने निवध को प्रस्तुत करती। लेकिन मुनिश्री नथमलजी स्वामी ने, समीक्षा के समय मेरे साधारण से साधारण निवध को भी सराहा और मुझे प्रोत्साहित किया। फलत मेरा आत्म-विश्वास वढा और मैं समय-समय पर अपने विचारो को लेखनी के माध्यम से नि सकोच अभिव्यक्ति देने लगी। आचार्य-प्रवर की सतत प्रेरणा और मुनिश्री नथमलजी के प्रोत्साहन-सवर्द्धन की ही एक छोटी-सी निष्पत्ति है प्रस्तुत पुस्तक—'महावीर : व्यक्तित्व और विचार', जो समय-समय पर लिखे गए इक्कीस निवधो का सकलन है।

महावीर का दर्शन देश और काल की सीमा से निर्वाध है। उनके तत्त्व-चिन्तन की मूल्यवत्ता सार्वदिक और सार्वत्रिक है। उन्होंने जहा मानवीय मूल्यो की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की, वहा जीवन और जगत् के सूक्ष्मतम रहस्यो को उद्घाटित करने वाली ऐसी दृष्टिया भी प्रदान की, जिनके आलोक मे हम यथार्थ की सम्यक् अवगति कर सकते हैं और जीवन की जटिलतम गुत्थियो को सुगमता से सुलझा सकते हैं।

आगम-साहित्य के आलोक मे मैंने महावीर के व्यक्तित्व और विचार-दर्शन को जानने-समझने का प्रयास किया। उसका मूल-स्रोत आचाराग सूत्र रहा है, जिसके तलस्पर्शी अध्ययन ने मेरे चिन्तन को परिस्पन्दित किया और वह लेखनी का विषय वन गया। कही-कही अन्य आगमो एव उनके व्याख्या-साहित्य का भी मैंने आलम्बन लिया है।

महावीर का प्रभास्वर, व्यक्तित्व उनके विचार-दर्शन मे स्पष्ट अभिव्यक्त है, अत मैंने उसे अलग से स्थापित करने की अपेक्षा नहीं समझी। वह स्वत उभर आया है, उनके अप्रतिम तत्त्व-दर्शन मे।

युगीन सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य मे महावीर के व्यक्तित्व और विचार-

दर्शन को प्रस्तुत करने मे मैं कहा तक सफल हो सकी हू, इसका निर्णय तो सुधी पाठक ही कर सकेंगे।

युग-प्रधान आचार्यश्री तुलसी का मगल आशीर्वाद सदा मेरे पथ को आलोकित करता रहा है। मुनिश्री नथमलजी स्वामी का प्रोत्साहन और साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी का जो मार्गदर्शन मिलता रहा, वह चिर-स्मरणीय रहेगा।

श्रीमती निर्मला दूगड का सम्पादन-सहयोग, कुमारी सुमन छाजेड और सुशीला बोरड का मनोयोगपूर्वक लेखन एव अधिग्रहण मेरे कार्य को सुगम बनाते रहे। दीपचन्द साखला की पुस्तक को अतिशीघ्र प्राप्त करने की तत्परता ने मुझे त्वरता से कार्य करने को विवश किया। अत मैं अपनी सफलता मे इन सबको श्रेयोभागी मानती हुई, इन सब नवोदित प्रतिभाओ के परिस्फुरण की मगल कामना करती हू।

सरदारशहर साध्वी कनकश्री
२ अक्तूबर, १९७७

अनुक्रम

महावीर : व्यक्तित्व और विचार

१

वर्तमान परिवेश : महावीर के निर्देश

जिन युग-पुरुषो ने अपने गहन चितन और अध्यात्म-दर्शन से युग-चेतना को प्रभावित किया, उनमे भगवान् महावीर का नाम अत्यन्त आदर और श्रद्धा के साथ लिया जाता है। वह इसलिए कि उन्होने युग की भाषा मे प्राण भरे थे, युग की गति को नया मोड दिया था और प्रचलित अर्थहीन युगीन-मूल्यो को बदलकर नये मूल्यो की स्थापना की थी।

उनका चिन्तन किसी भी जाति, वर्ग, धर्म और सम्प्रदाय मे प्रतिबद्ध नही था। उसमे लोक-मगल की भावना सन्निहित थी। इसीलिए आज २५०० वर्ष के पश्चात् भी उनका वह सम्यक् चिन्तन भारतीय अध्यात्म-सस्कृति की पावन धरोहर के रूप मे मान्यता प्राप्त हो चुका है।

जातिवाद, सम्प्रदायवाद, पूजीवाद और साम्राज्यवाद के विकराल अजगरो से सत्रस्त विश्व-समाज आज भी उनके अहिंसा, समता और अपरिग्रह-दर्शन से सही दिशादृष्टि प्राप्त कर सकता है।

सम्प्रदाय या जातिवाद के आधार पर समाज का जन्मजात विभाजन करने वाली अनुचित और अवैज्ञानिक परम्परा के विरुद्ध उन्होंने कर्मणा-जाति के न्याय-सगत और बुद्धि-गम्य सिद्धान्त का प्रतिपादन कर, समग्र मनुष्यता को एकता के धागे मे आबद्ध किया। थोथे आदर्शवाद और सिद्धान्तवाद के विपरीत उन्होंने अपने चिन्तन के लिए व्यावहारिक धरातल प्रस्तुत किया। उन्होंने सबसे पहले स्वय को और स्वय के परिवेश को अपनी अध्यात्म-अनुभूतियो की प्रायोगिक कसौटी पर कसा और फिर

उनको जन-जन तक पहुचाया।

उन्होने अपने धर्म-सघ मे उन सबको प्रवेश दिया, जिनके मानस में सत्य-सधित्सा और आत्मोदय की तीव्र अभीप्सा थी। उसके लिए उन्होंने जातीयता को व्यवधान नही माना, अपितु आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस युग मे श्रमण और ब्राह्मण की जन्मजात शत्रुता प्रसिद्ध थी, उस युग मे श्रमण-परम्परा के उस वर्चस्वी नेता ने ग्यारह ब्राह्मण विद्वानो को अपने शिष्य-परिवार मे सर्वोपरि स्थान देकर एव अपनी सघ-व्यवस्था की बागडोर उनके हाथो मे सौंपकर महान सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया। महावीर ने चाण्डाल मुनि हरिकेशी की तप साधना की श्रेष्ठता का उद्घोष कर दलित-वर्ग को उसके अस्तित्व और कर्तृत्व का बोध दिया। इससे अभिजात वर्ग की अस्मिता चरमरा उठी।

अनेक-अनेक सम्राट् तथा धनकुबेर व्यक्ति उनके अनुयायी तथा भक्त थे, फिर भी उनकी श्रेष्ठता का बखान न करते हुए, महावीर ने शुद्ध साधनो से उपलब्ध दैनिक अत्यल्प आय (उस युग के रुपये का एक तिहाई भाग) से अन्तस्तुष्टिपूर्वक जीवन-निर्वाह करने वाले 'पूणिया' श्रावक की सराहना की अपनी विशाल परिषद् मे और उनके हाथ से भिक्षा प्राप्त कर उसको तथा उसकी कुटिया को कृतार्थ किया। इससे सत्ता और वैभव के बटखरो से व्यक्ति के व्यक्तित्व और प्रतिष्ठा को तोलने वाले समाज-विरोधी तत्त्वो मे उन्होंने एक हलचल-सी पैदा कर दी।

अपने धनिक अनुयायी वर्ग को अर्जन के साथ विसर्जन का सूत्र देकर उन्होंने आर्थिक आधार पर पनपने वाली सामाजिक विषमता का बहिष्कार किया।

पूजीवाद के विरुद्ध उनके जो स्वर मुखरित हुए, उनमे समाजवाद की सही परिकल्पना के दिग्दर्शन होते हैं। उन्होंने शोषण, उत्पीडन और अतिसग्रह जन्य समस्याओ के समाधान-हेतु व्यक्ति-व्यक्ति को आत्म-तुला की दृष्टि प्रदान की। व्यक्ति दूसरे के साथ धोखाधडी, छलना, प्रवचना और अनैतिक व्यवहार तब करता है, जब वह स्वार्थ-चेतना से परिक्रान्त होता है। महावीर ने व्यक्ति के अन्तर् मे समानुभूति की लौ प्रज्वलित करते हुए कहा—

"तुम सि नाम सच्चेव, ज हृतव्व ति मन्नसी"[1]

—पुरुष, तू जिसको मारना चाहता है, जिसको धोखा देना चाहता है, जिसका उत्पीडन और शोषण करता है, वह तू ही तो है। क्या कोई व्यक्ति स्वय का अहित करना चाहता है ?

उन्होंने इस आत्मानुभूति की सुदृढ भूमिका पर नैतिक मूल्यो को प्रतिष्ठित करते हुए कहा—

"वय च वित्ति लब्भामो, ण य कोइ उवहम्मइ"[2]

—हम अपना जीवन-निर्वाह भी ऐसे करें जिससे दूसरो के स्वार्थों का उपहनन न हो।

जिसकी आत्मानुभूति प्रखर हो जाती है, उसकी स्वार्थ-चेतना मे विश्व-चेतना प्रतिबिम्बित होने लगती है, इसलिए वह दूसरो के अहित की कल्पना भी नहीं कर सकता। शोषण, सग्रह आदि के विषैले अकुर उसकी मनोभूमि मे प्रस्फुटित हो ही नही सकते। उसके चिन्तन की धारा भी बदल जाती है। वह सामाजिक जीवन मे अर्थ की अनिवार्यता को स्वीकार करता हुआ भी उसे अतिरिक्त महत्त्व नही देता। अर्थ को ही सब कुछ नही मानता। इसीलिए वह अर्जन के अनुचित स्रोतो पर स्वत नियन्त्रण स्थापित कर लेता है, जिससे औरो का हित विघटित न हो। अर्थ के अतिरिक्त-सग्रह की प्रेरणा है आकाक्षाओ का असीमित विस्तार और प्रतिष्ठा की कृत्रिम भूख। महावीर ने उनकी समानान्तर रेखा के रूप में सयम और त्याग को प्रतिष्ठित किया। जिसके मानस मे सयम और त्याग की प्रतिष्ठा हो जाती है, वह अपनी अपेक्षाओ की आपूर्ति के लिए दूसरो की अपेक्षाओ की उपेक्षा नही कर सकता। अपनी तृप्ति के लिए दूसरो के जीवन-रस का शोषण नही करता, अपितु अपने जीवन के मधु-कोष को मुक्त हाथो से वह निरन्तर बाटता रहता है। अपने स्वत्व के विसर्जन मे ही वह अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति करता है। वह यह मानकर चलता है कि जो अपने स्वत्व को बाट-बाटकर भोगना नही जानता वह समस्याओ से छुटकारा नही पा सकता—

"असविभागी न हु तस्स मोक्खो"[3]

—उन्होंने ममत्व-मुक्ति का सूत्र देकर, परिग्रह से चिपके न रहने की

प्रेरणा दी—

"परिग्गहाओ अप्पाण अवसक्केज्जा"[४]

मैं समझती हू आज जो जमाखोरी, मुनाफाखोरी और तस्करी की घातक व्याधियो से समाज का अग-अग जीर्ण-शीर्ण हो रहा है, उसका सही उपचार भगवान् महावीर के अहिंसा और अपरिग्रह दर्शन मे ही ढूढा जा सकता है, अन्यथा इस देश-व्यापी सकट से अध्यात्म-प्रधान भारत की गौरवमयी सस्कृति और उज्ज्वल परम्पराओ को सुरक्षित रख पाना बहुत कठिन प्रतीत होता है। मात्र कानून और शक्ति-प्रयोग से इस क्षेत्र मे सफल हो सकेंगे—यह भी व्यर्थ की कल्पना ही होगी। इसके लिए अपेक्षा है व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय-परिवर्तन और मनोभूमि के निर्माण की। यह तभी सभव हो सकता है जबकि व्यक्ति का विवेक जागृत हो। तब उसे अनचाहे विधि-निषेधो की भूल-भुलैया मे भटकना नही पडेगा।

भगवान् महावीर विश्व-इतिहास के एक महान पुरुष थे, जिन्होंने समाज को रुढिवादी वर्जनाओ, प्रतिबद्धताओ और विधाओ से एकान्तत बधे न रहने की प्रेरणा देकर, उसको वह दिव्य दृष्टि प्रदान की, जिसके आलोक मे वह स्वय अपने करणीय और अकरणीय का विवेक करता हुआ आगे बढ सके और अपनी दुर्बलताओ से समाज की सरसता को किंचित् भी क्षति न पहुचाए।

सचमुच भगवान् महावीर ने शताब्दियो पहले जिस आध्यात्मिक और सामाजिक परिवेश मे जो निर्देश दिए, वे वर्तमान मे भी स्वस्थ समाज की संरचना मे बहुत मूल्यवान सिद्ध हो रहे हैं।

सन्दर्भ

१ आयारो—५।५।१०१
२ दसवेयालिय—१।४
३. दसवेयालिय—६।२।२२
४ आयारो—२।५।११७

२

महावीर की साधना का दार्शनिक आधार

भारत एक अध्यात्म-प्रधान देश है। समय-समय पर ऐसे आत्मदर्शी व्यक्ति इस पावन वसुन्धरा पर अवतरित हुए जो चेतना की गहराई मे उतरे, अपनी आवृत शक्तियो को अनावृत किया, स्वय को साधा और अपनी अध्यात्म-अनुभूतियो के आधार पर जिन्होंने स्वतन्त्र साधना-पद्धतिया विकसित की।

प्रत्येक साधना-पद्धति अपनी स्वतन्त्र दार्शनिक पृष्ठभूमि पर पल्लवित हुई। क्योकि सुदृढ दार्शनिक आधार के विना कोई भी विधि अपना अस्तित्व सुरक्षित नही रख सकती।

भगवान् महावीर परम अध्यात्म-साधक थे। उनकी साधना न प्रवाहपाती थी, न किसी परम्परा से प्रतिबद्ध थी और न किसी ऐहिक आशसा से प्रेरित भी।

सोद्देश्य स्वीकृत साधना के पीछे उनका स्वतन्त्र दर्शन था। उसी को केन्द्र मानकर उन्होंने साधना की लम्बी यात्रा तय की, अज्ञात को ज्ञात किया, अप्राप्त को पाया और सम्पूर्ण विकसित चैतन्य मे प्रतिष्ठित होकर तमसावृत विश्व-चेतना को दिव्य आलोक से भर दिया।

उस आलोक-पुरुष की साधना-पद्धति और उसका दर्शन क्या था, यह जानना एक सत्य-जिज्ञासु के लिए अनिवार्य हो जाता है।

वीज मे वरगद का अस्तित्व छिपा हुआ है। आत्मा मे परमात्मा का अस्तित्व गर्भित है। वीज को वरगद वनने के लिए अनेक अवस्थाओ से गुजरना होता है। आत्मा को परमात्मा वनने के लिए विकास की अनेक भूमिकाओ को पार करना होता है। वीज से वरगद और आत्मा से परमात्मा वनने की प्रक्रिया का नाम है साधना। अत साधना का मौलिक आधार आत्मा ही है। अनात्मवादी के लिए साधना का कोई अर्थ ही नही रह जाता।

साधना का लक्ष्य है वन्धन-मुक्ति या चेतना का चरम विकास। इस दृष्टि से आत्मा की दो अवस्थाए होती हैं—वद्ध और मुक्त अथवा अविकसित और विकसित। बन्धन से मुक्ति और अविकास से विकास की सर्वोच्च भूमिका को प्राप्त करके ही आत्मा मे आमूलचूल रूपान्तरण घटित हो जाता है। यह परिवर्तन के प्रति गहरी आस्था ही महावीर की अविश्रान्त साधना की प्रेरणा-स्रोत थी।

भगवान् महावीर ने कहा—"साधना से पहले साध्य के प्रति सम्यक् दृष्टिकोण का होना आवश्यक है। हर अध्यात्म-साधक का मूल साध्य है आत्म-विकास। उसका प्रथम चरण है आत्मा का स्वरूप-निर्धारण।"

उस समय विभिन्न दार्शनिक आत्मा के स्वरूप-निर्धारण मे काफी उलझे हुए थे।

एक दार्शनिक धारा आत्मा की पूर्वापर अवस्थाओ का सधान स्वीकार नही करती थी। इस मान्यता के पोपक थे चार्वाक दर्शन और वौद्धद र्शन।

चार्वाक दर्शन मे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ही सब कुछ है। इन्द्रिया वर्तमान-ग्राही हैं। वे भूत और भविष्य मे सामजस्य स्थापित नही कर सकती। इस स्थिति मे साधना आधार-शून्य हो जाती है।

वौद्ध दर्शन भी क्षणिकवादी है। उसके अनुसार पूर्वापर क्षणो मे कोई अनुवन्ध नही है। वर्तमान क्षण की अर्थक्रिया दूसरे क्षण को प्रभावित नही कर सकती। पदार्थ उत्पन्न होते ही विनष्ट हो जाता है। अत साधना कौन करेगा और कव करेगा ? सिद्धि एक क्षण मे निष्पन्न नही होती। महावीर ने कहा—"क्षणिक आत्मा साधना की अर्हता से सर्वथा

शून्य है।"

दूसरी धारा मे समाविष्ट होते हैं कूट-स्थनित्यवादी। उनके अनुसार पदार्थ मे कभी भी किंचित् भी परिवर्तन नही होता। पदार्थ जैसा है वह सदा-सदा उसी रूप मे रहता है। परिवर्तन नित्यता का बाधक है। नित्यता के अभाव मे पदार्थ का अस्तित्व भी खतरे मे होता है। अस्तित्व और नित्यत्व का गहरा अनुबन्ध है। नित्य का लक्षण है—'अप्रच्युतानुत्पन्न-स्थिरैकरूप नित्यम्'—जो न कभी विनष्ट होता है और न उत्पन्न, उस स्थिर सत्ता का नाम नित्य है।

इस नित्यवाद की भूमिका की निष्पत्ति है अपरिवर्तनीयता। इस दृष्टि की परिधि मे ये धारणाए परिपुष्ट हुईं कि स्त्री सदा स्त्री ही रहती है और पुरुष पुरुष। पशु कभी मनुष्य नही बन सकता और मनुष्य कभी पशु, देव या दानव नही बन सकता। जो भाव जिस अवस्था मे स्थित है उसमे जरा भी उत्कर्ष या अपकर्ष नही आ सकता।

महावीर ने कहा—एकान्त नित्यवाद भी साधना के लिए अनुकूल भूमिका प्रस्तुत नही करता। साधना का अर्थ है आत्मोत्कर्ष। विजातीय तत्त्वो के सयोग और वियोग से आत्मा मे उत्कर्ष और अपकर्ष का क्रम चलता रहता है। अपकर्ष की स्थिति ही उत्कर्ष को मूल्य प्रदान करती है। आत्मा यदि अपकर्ष की स्थिति मे जाए ही नही तो उसके उत्कर्ष के लिए प्रयास भी व्यर्थ हैं।

अत उन्होंने आत्मा के नित्यानित्य स्वरूप को साधना की पृष्ठभूमि के रूप मे स्वीकार किया। उन्होने अनुभव किया कि एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य पक्ष मे साधना सावकास नही है।

महावीर की साधना का एक लक्ष्य था—चेतना के आवारक तत्त्वो को क्षीण कर विकास की सर्वोच्च भूमिका पर अवस्थित होना। उसका एक लक्ष्य था स्वभाव-परिवर्तन। वह आत्मा को नित्यानित्य मानने से ही फलित हो सकता है।

महावीर ने इन बद्धमूल धारणाओ की जडो को एकदम झकझोर दिया कि चाहने पर भी व्यक्ति अपने जीवन-क्रम, मनोवृत्तियो और सस्कारो को बदल नही सकता। उन्होने कहा—वह साधना व्यर्थ है

जिससे व्यक्ति के अन्तस् मे रूपान्तरण घटित नही होता, जीवन सस्कृत नही होता और वृत्तिया परिष्कृत नही होती। जीवन-व्यवहार मे जिस साधना का अवतरण नही होता, वह बौद्धिक जगत् के आकर्षण का विषय नही बन सकती।

साधना-पथ का सबसे बडा खतरा है परिवर्तन के प्रति अनास्था के भाव। परिवर्तन मे अविश्वास का अर्थ है स्वय के पुरुषार्थ पर अविश्वास। महावीर ने कहा—दृढ सकल्प और प्रबल पुरुषार्थ के बल पर वह सब कुछ हो सकता है, जो हम चाहते हैं।

उन्होंने अपने इसी परिवर्तनवाद और पुरुषार्थवाद के आधार पर स्वय को बदला, स्वय के परिवेश को बदला और वातावरण को बदला। उन्होंने अपने अन्त करण की सम्पूर्ण मैत्री की धाराओ को प्रवाहित कर चण्डकौशिक सर्प के मानस को बदल दिया, शूलपाणि यक्ष की पैशाचिकता को समाप्त कर दिया।

समता, मैत्री और वृत्तियो के शमन का सदुपदेश पाकर दृढप्रहारी, रोहिणेय और अर्जुनमाली जैसे खूखार डाकू, कुख्यात तस्कर और नृशस हत्यारे भी महान् सन्त बन गए। यह था भगवान् महावीर के परिवर्तनवाद और पुरुषार्थवाद की प्रतिष्ठा का चमत्कार।

अपेक्षा है, साधना की इस दार्शनिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित होकर हम अपनी वृत्तियो का उदात्तीकरण, चेतना का ऊर्ध्वारोहण और अन्त क्षमताओ का जागरण करते हुए बीज से बरगद बनने की दिशा मे सतत प्रयत्नशील रहे।

३

अस्पर्शयोगी महावीर

आचाराग सूत्र मे कष्ट, पीडा, परीषह और उपसर्ग के अर्थ मे स्पर्श शब्द का अनेकश प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग अत्यन्त अर्थपूर्ण और रहस्यमय भी है।

व्यक्ति को कष्ट की अनुभूति तभी होती है, जबकि वह उससे सपृक्त होता है, सस्पृष्ट होता है। सामने पड़े ढेर सारे पत्थर किसी को चोट नही पहुचाते, शस्त्र घायल नही करते, आग जलाया नही करती और जल डुबोया नही करता। यह सब प्रहार या स्पर्श की स्थिति मे ही सम्भाव्य है।

इसी प्रकार मानसिक कष्ट की अनुभूति भी मानस की गहराई को छुए बिना नही हो सकती।

सच तो यह है कि तीव्रतम शारीरिक पीडा भी मानसिक सस्पर्श के बिना व्यक्ति को पीडित नही कर सकती। इसके विपरीत सामान्य पीडा भी मानसिक सवेदन का योग पाकर बहुत गहरी हो जाती है।

कल्पना करें कि एक व्यक्ति किसी को चाटा लगा दे। उसकी पीडा या झनझनाहट कुछ ही क्षणो मे समाप्त हो जाएगी। लेकिन उसके मन मे जो तिलमिलाहट, कसक और पीडा होगी, वह वर्षों तक समाप्त नहीं हो सकेगी। उसके मन मे जो प्रतिशोध की आग सुलग उठेगी, उसे बुझाना सरल न होगा। क्योंकि वास्तव मे वह चाटा गाल पर नहीं लगेगा, वह उसके अह पर तीव्र चोट होगी जो मानस के अन्तराल को छूकर असह्य हो उठेगी।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब-जब हमारा मन बाह्य स्थितियो से जुडता है, तब-तब हमारा आनन्द विघटित होने लगता है। परिस्थितिया हम पर हावी हो जाती हैं, फलत हमारी ऊर्जा बिखर जाती है। चेतना खण्ड-खण्ड हो जाती है। हम टूटा हुआ जीवन जीने लगते हैं और व्यथा-रागिनी मे घुले तिल-तिल जलते रहते हैं। न हम परिपूर्ण और समग्र जीवन जी सकते हैं और न आनन्द का रसास्वादन ही कर सकते हैं।

भगवान् महावीर का साधना-काल भीषणतम कष्टो से परिपूर्ण रहा। उनकी ध्यान-साधना, तप साधना और मौन मे बराबर प्रतिस्पर्धा और टकराव बना रहा।

सगम देव और शूलपाणि यक्ष ने उन्हे एक-एक रात मे बीस-बीस मारणान्तिक पीडाए दी, जिन यातनाओ के श्रवण-मात्र से हमारे रोगटे खडे हो जाते हैं।

अभिनिष्क्रमण के पश्चात् चार-पाच मास तक जहरीले मच्छर और कीडे उनका मास नोचते रहे और खून पीते रहे। लाढ देश के अनार्य लोग उन्हे मारते-पीटते, मास नोचते और शिकारी कुत्तो को उनके पीछे छोड देते। चण्डकौशिक साप ने उन्हे काट खाया। कहा जाता है कि किसी ग्वाले ने उनके कानो मे लोहे की किल्लिया रोप दी तो किसी ने उनके पैरो के बीच आग जलाकर खीर पका ली। कभी चोर, डाकू या गुप्तचर समझे जाने पर वे फासी पर भी चढा दिए गए। फिर भी महावीर कभी भी उन स्थितियो से प्रभावित नही हुए। इसीलिए वे यातनाए उन्हें जरा भी विचलित नही कर पायी।

इसका एकमात्र कारण था—उनकी अप्रतिम अस्पर्श-योग की साधना। वे इतने आत्म-केन्द्रित हो गए थे कि बाहर के सारे सम्पर्क ही टूट गए। वे सदेह होते हुए भी देहातीत अवस्था तक पहुच गए थे। इसीलिए यद्यपि कष्टो की पर्वतमालाए उन पर टूट पडी थी, लेकिन उस विशाल चट्टान से टकरा-टकराकर वे स्वय चूर-चूर हो गयी। अनुकूलताओ और प्रतिकूलताओ की सतत-प्रवाही धाराए उस समतामय तट को कभी छू भी नही पायी।

सामान्यतया कह दिया जाता है कि महावीर का शरीर-सहनन

इतना सुदृढ था कि वह किसी भी स्थिति से प्रभावित नही होता था। लेकिन मेरी दृष्टि मे इसका रहस्य दूसरा ही है।

वस्तुत महावीर को ऐसा कोई गुर, विधि या प्रक्रिया प्राप्त थी जिससे वे अपने मन, प्राण और ऊर्जा को किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित कर लेते थे। फलत शरीर पर होने वाले तीव्रतम आघात भी उनके अन्तर् को नही छू पाते थे।

उस अद्भुत क्षमता का नाम है—अस्पर्श-योग। अस्पर्श-योग का उल्लेख उपनिषद्-साहित्य मे भी हुआ है। सब प्राणियो के लिए सुखावह, हितावह, निर्विवाद और अविरुद्ध अस्पर्शयोग को नमन करते हुए उपनिषदकार कहते हैं—

"अस्पर्शयोगो वै नाम, सर्वसत्व सुखो हित ।
अविवादो ऽविरुद्धश्च देशित स्त नमाम्यहम् ॥"[१]

भाष्यकार शकर के शब्दो मे—बाह्य पदार्थ या परिस्थिति के साथ सम्बन्ध स्थापित न करने का नाम ही अस्पर्श योग है—

"सर्व सम्बन्धाख्य-स्पर्शवर्जितात् अस्पर्श ।"

जैन आगम-ग्रन्थ आयारो मे लिखा है—

जे असत्ता पावेहि कम्मेहि उदाहु ते आयका फुसति ।
इति उदाहु वीरे—"ते फासे पुट्ठो हियासए"[२]

—जो मुनि पाप-कर्म मे आसक्त नही हैं, उन्हें भी कभी-कभी शीघ्रघाती रोग पीडित कर देते हैं। इस पर भगवान् महावीर ने ऐसा कहा—उन शीघ्रघाती रोगो के उत्पन्न होने पर मुनि उन्हें सहन करें।

यह तभी सभव है, जबकि साधक—

"पुट्ठो फासे विप्पणोल्लए"[३]

स्पर्शों के उपस्थित होने पर मन को मोड ले, अनुभूति का प्रत्यावर्तन कर ले—

"सहिए दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झझाए"[४]

सत्य का साधक दु ख मात्रा से स्पृष्ट होने पर व्याकुल न हो। यह स्थिति भी तभी उपलब्ध हो सकती है जब कि वह 'फरुसिय णो वेदेति'[५] —उस कष्ट का वेदन नही करे।"

वस्तुत सुख और दु ख—ये अनुभूति-सापेक्ष ही हैं। सुख की अनुभूति दु ख को भी सुख मे परिणत कर देती है और दु ख की अनुभूति सुख को भी दु ख मे बदल देती है।

एक युवक यात्रा पर था। ट्रेन पर चढते समय वह गिर पडा। कुछ चोट आयी। एक पाव टूट गया। मित्रो के सहयोग से उपचार भी हुआ। पक्का प्लास्टर लगाया गया। लेकिन वह तो भविष्य की चिन्ता मे डूबा रोता-विलपता अपने भाग्य को कोसने लगा तथा ईश्वर को दोषी ठहराते हुए उसे भी भला-बुरा कहने लगा।

निकट ही एक दूसरा युवक भी बैठा था। हालाकि उसकी स्थिति दयनीय थी, उसके दोनो ही पाव कटे हुए थे, फिर भी उसका मन प्रसन्नता से भरा हुआ था। आखो की चमक, मुख की रौनक और होठो की गुनगुनाहट, न जाने कितनो को अपनी ओर खीच रही थी। यह देखकर पहले युवक का मन आश्चर्य से भर गया कि मेरे तो एक पाव टूटा है, फिर भी मेरी यह स्थिति है। और इसके दोनो पैर टूट गए, फिर भी इसे कोई परवाह नही ! अजीब मस्ती भरा है इसका जीवन। आखिर पूछ ही लिया—भैया, दोनो पाव खोकर भी तुम्हारी प्रसन्नता और सन्तुष्टि मुझे आश्चर्य मे डाल रही है। तुम्हें इसका दु ख क्यो नही है ?

दूसरे युवक ने हल्की-सी मुसकान बिखेरते हुए कहा—मित्र ! जो वस्तु चली गयी उसके लिए यदि जीवन भर भी रोता-कलपता रहू तो वह वस्तु मिलने वाली नही है। इससे अच्छा तो यह है कि जो वस्तु मेरे पास बची है, उसके लिए ईश्वर को धन्यवाद दू और उसका सम्यक् उपयोग करू। मेरे दो पाव चले गए तो क्या हुआ ? मस्तिष्क, दो आखें और दो हाथ तो मेरे अभी भी सुरक्षित हैं। फिर चिन्ता किस बात की ?

यह है परिस्थिति के आविष्कार का अचिन्त्य प्रभाव। एक व्यक्ति सामान्य स्थिति मे आकुल, अधीर, विपण्ण और विमन बन रहा है वहा दूसरा व्यक्ति चिन्तनीय स्थिति मे भी पुलक रहा है, मुसकरा रहा है और गुनगुना रहा है।

इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए महावीर ने कहा—

"का अरई ? के आणदे ? एत्थ पि अग्गहे चरे"[१]—साधक के लिए क्या

आकाश में उड़ान भरने की भी खुली छूट दी थी। उन्होंने कभी नहीं कहा—अर्हत् वाणी वेदों की तरह अतर्कणीय है। बल्कि उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा—जो संशय करना जानता है, वह संसार को जानता है और जो संशय करना नहीं जानता वह संसार को भी नहीं जानता।[६]

इन सब सन्दर्भों को पढ़ लेने के पश्चात् इस जिज्ञासा का उभरना स्वाभाविक ही है कि महावीर ने व्यक्ति की स्वतंत्र-चेतना और प्रज्ञा-जागरण को इतना महत्त्व देते हुए भी धर्म-संघ में अपनी आज्ञा को सर्वोपरि कैसे माना ?

इस परिप्रेक्ष्य में यह वाक्य कुछ आलोच्य हो जाता है। हालांकि इस वाक्य का पारम्परिक अर्थ हम यही करते हैं कि भगवान् ने कहा है—"मेरी आज्ञा में धर्म है।" लेकिन लगता है, हम मूल अर्थ से बहुत दूर चले गए हैं। इसका कारण है शब्द की अनेकार्थता। मात्र शब्दात्मा को पकड़ने वाला उसकी गहराई में पहुंच नहीं सकता।

यह सच है कि महावीर ने 'आणाए मामगं धम्मं' का उद्घोष किया था, पर आलोच्य यह है कि 'आणाए' से उनका अभिप्रेत क्या था ?

देश-काल की परिस्थितिवश शब्द का अर्थ-बोध भी बदल जाता है। वह उत्कर्ष और अपकर्ष के झूले में झूलता रहता है। 'आणा' शब्द भी इसका अपवाद नहीं रह सका।

'आणा' का संस्कृत रूप आज्ञा बनता है जो 'ज्ञांश्-अवबोधने' धातु से निष्पन्न हुआ है। अतः उसका मौलिक अर्थ ज्ञान ही होता है—'आसमन्तात् ज्ञायते अनया सा आज्ञा' जिसके द्वारा समग्रता से वस्तु-बोध हो, वह आज्ञा है। अतः ज्ञान और आज्ञा—दोनों एकार्थक हैं। अतः यह स्पष्ट है कि आज्ञा का अर्थ केवल आदेश या अनुशासन ही नहीं, ज्ञान भी है।

युगप्रधान, वाचन-प्रमुख आचार्यश्री तुलसी के सान्निध्य में आचारांग सूत्र का स्वाध्याय करते समय यह प्रतीत हुआ कि हम इस लघु वाक्य का कितना विपरीत अर्थ करते आ रहे हैं। आचार्यश्री ने बताया कि 'आणाए' यह सप्तम्यन्त पद नहीं, अपितु 'क्त्वा' प्रत्ययान्त पद होना चाहिए। अतः 'आज्ञा में' की अपेक्षा आज्ञाय 'जानकर' यह

४

सवस्त्र और निर्वस्त्र साधना के सेतु : महावीर

आचारांग सूत्र साधक के लिए तीन वस्त्र, दो वस्त्र, एक वस्त्र और निर्वस्त्रता का विधान करता है। इसलिए वर्तमान जैन परम्परा में सवस्त्रता और निर्वस्त्रता दोनों का समावेश है।

इस परिप्रेक्ष्य में विचारणीय प्रश्न यह है कि जैन-परम्परा में साधना का यह रूप भगवान् महावीर ने ही प्रचलित हुआ है या उससे भी पहले विद्यमान था।

उत्तराध्ययन सूत्र में पार्श्वापत्यिक श्रमण केशीकुमार भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गौतम स्वामी से पूछते हैं कि—

"अचेल गो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो
देसियो वद्धमाणेण, पासेण य महाजसा
एक कज्ज पवन्नाण विसेसे किंतु कारण ?"[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि पार्श्वनाथ की परम्परा में निर्वस्त्रता का सामान्यत विधान नहीं था। भगवान् महावीर ने ही यह विशेष दृष्टि दी थी।

साधक के लिए बाह्य पर्यावरण मूल्यवान नहीं होते, मूल्य होता है लक्ष्य-प्राप्ति का। वस्त्र रखना या न रखना साध्य नहीं, साध्य है ज्ञान, दर्शन, चारित्र की सम्पूर्ण आराधना, जिसका कि गौतम स्वामी ने स्पष्ट

उद्घोष किया है—

"अह भवे पइन्ना उ मोक्ख-सब्भूय साहणे।
नाण च दसण चेव चरित्त चेव निच्छए ॥"[२]

पर कभी-कभी सामयिक प्रभाव मुख्य को गौण और गौण को मुख्य कर दिया करता है।

शरीर-सुरक्षा का मात्र साधन वस्त्र भी साधना से अभिसम्बद्ध होकर महान् ऊहापोह का विषय बन गया।

भगवान् महावीर के सामने भी वस्त्र एक गूढ प्रश्न बनकर आया। उनके सामने एक ओर भगवान् पार्श्वनाथ की सवस्त्र परम्परा थी तो दूसरी ओर निर्ग्रन्थ परम्परा के अतिरिक्त कुछ ऐसी परम्पराए भी थी जो अपनी कठोर साधना और नग्नता के आधार पर अपना प्रभाव बढा रही थी। उन परम्पराओ में शीर्ष-स्थानीय था आजीविका सम्प्रदाय, जिसे नग्नता मान्य थी और जो तत्कालीन परम्पराओ मे अपना विशेष प्रभाव-पूर्ण स्थान रखता था। निष्कर्ष की भाषा मे उस समय नग्न साधना का अत्यन्त महत्त्व था। वह साधक की महान् तितिक्षा की परिचायक बन चुका था।

भगवान् महावीर का झुकाव भी निर्वस्त्रता की ओर था। इसलिए उनके सामने तीर्थ-प्रवर्तन के पहले या कि अभिनिष्क्रमण से पहले भी यह समस्या थी कि एक ओर जहा अपने नवीन श्रमण-सघ को अवस्त्र साधना की ओर मोडना है वहा भगवान् पार्श्वनाथ की सवस्त्र परम्परा को भी साथ लिए चलना है क्योंकि एक चिर-प्रवाहित परम्परा के प्रवाह को एकाएक मोडना सामान्य बात नही है। उसमे किसी न किसी प्रकार का सामजस्य ही उपयोगी होता है।

भगवान् महावीर ने तत्काल उस समस्या का समाधान निकाल लिया। अवस्त्रता की ओर विशेष झुकाव, अपनी महान् तितिक्षा और लज्जा परिषह पर पूर्ण विजय प्राप्त होते हुए भी अभिनिष्क्रमण के समय उन्होंने एक शाटक धारण किया। वह भी इस प्रतिज्ञा के साथ कि—

"नो चेविमेण वत्थेण, पिहिस्सामि तसि हेमन्ते।
से पारए आवकहाए एव खु अणु धम्मिय तस्स ॥"[1]

मैं हेमन्त ऋतु मे इस वस्त्र से शरीर को प्रच्छादित नही करूगा। वे जीवन-पर्यन्त सर्दी के कष्टो को सहने का निश्चय कर चुके थे। यह उनकी अनुधर्मिता थी।

उन्होने अनुधर्मिता-पूर्व तीर्थंकरो की परम्परा का निर्वाह करने के लिए ऐसा किया था। अनुधर्मिता का सामान्य अर्थ यह किया जाता है कि सभी तीर्थंकरो ने दीक्षा के समय एक वस्त्र स्वीकार किया था। उसी परम्परा का पालन भगवान् महावीर ने किया। पर वस्तुत अनुधर्मिता का अर्थ पार्श्वनाथ की परम्परा होना चाहिए, जिसको अपने सघ मे स्थान देने के लिए उन्होंने इस उदारता का परिचय दिया। प्राचीन परम्परा के अनुसार अभिनिष्क्रमण के समय इन्द्र ने एक देवदूष्य वस्त्र उनके कधे पर रख दिया था, पर उल्लिखित 'एव खु अणु धम्मिय तस्स' वाक्य से प्रतीत होता है कि उन्होने उस एक 'वस्त्र' को साभिप्राय स्वीकृत किया था, वह भी पार्श्वनाथ की परम्परा को अपने सघ मे स्थान देने के लिए। उनका एक वस्त्र स्वीकार करना भी एक गूढ रहस्य का अनावृत्तीकरण है।

बौद्ध साहित्य मे 'निग्गठा एग साडगा'—इस प्रकार निर्ग्रन्थो के लिए एक साटक होने का उल्लेख मिलता है। हो सकता है कि यह उल्लेख पार्श्वनाथ के शिष्यो के लिए ही हो, और उस परम्परा को आदर देने के लिए ही, सम्भवत भगवान् महावीर ने भी कुछ समय के लिए एक साटक स्वीकार किया हो। यह उनकी अपूर्व समन्वयवादी नीति का द्योतक है। फिर कुछ महीनो के बाद वे उस एक साटक को भी त्याग कर अवसन वन गए।

"सवच्छर साहिय मास जण रिक्कासि वत्थग भगव।
अचेलओ ततो चाई त वोसज्ज वत्थ मणगारे ॥"[2]

—भगवान् ने तेरह महीनो तक उस वस्त्र को नही छोडा। फिर त्यागी और अनगार महावीर उस वस्त्र को छोड अचेलक हो गए।

यही उनका वस्त्र-त्याग भावी श्रमण-सघ की निर्वस्त्र-साधना की पृष्ठभूमि बन गया।

भगवान् ने सुदीर्घ कठोर साधना के पश्चात् तीर्थ-प्रवर्तन किया। सघ मे निर्वस्त्रता का आदर्श प्रस्तुत किया।

उनके बाह्य तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व से आकृष्ट और प्रभावित होकर अनेक मुमुक्षुओ ने उनके अचेल धर्म को स्वीकार किया। अनेक पार्श्वापत्यिक श्रमणो ने भी वस्त्र त्याग कर निर्वस्त्रता को अगीकार किया। पर अनेक-अनेक पार्श्वापत्यिक श्रमण तथा अन्य मुमुक्षु ऐसे भी थे, जो भगवान् महावीर के श्रमण-सघ मे प्रविष्ट होना चाहते थे, पर सर्वथा वस्त्र-त्याग उन्हे अपनी सामर्थ्य से परे प्रतीत होता था।

उनके लिए तथा विशाल श्रमणी-सघ को साधना-मार्ग पर अग्रसर करने के लिए उन्होने वस्त्र रखने का भी विधान किया।

इस तथ्य की पुष्टि आचाराग की चूर्णि से भी होती है कि भगवान् ने स्वल्प समय के लिए वस्त्र-स्वीकार शिष्यो को यह विश्वास दिलाने के लिए किया कि वस्त्र-त्याग मे असमर्थ व्यक्ति भी साधना कर सकता है। साधना के लिए वस्त्र ग्रहण तथा विसर्जन का कोई बन्धन नही है।

इस प्रकार उन्होने साधक की शक्ति-अशक्ति तथा औचित्य का विचार कर निर्वस्त्रता को प्राधान्य देते हुए भी मर्यादित वस्त्रो का विधान भी किया।

"जे भिक्खू तिहिं वत्थेहिं परिवुसिते, पायचउत्थेहिं तस्सण।
णो एव भवति चउत्थ वत्थ जाइस्सामि ॥"[५]

—जो भिक्षु तीन वस्त्र और एक पात्र रखने की मर्यादा मे स्थित है, उसका मन ऐसा नही होता कि मैं चौथे वस्त्र की याचना करूगा।

"अह पुण एव जाणेज्जा-उवाइक्कते खलु हेमन्ते,
गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुण्णाइ
वत्थाइ परिट्ठवेत्ता, अदुवा सन्तरुत्तरे, अदुवा एग साडे,
अदुवा अचेले।"[६]

भिक्षु यह जाने कि हेमन्त बीत गया है, ग्रीष्म ऋतु आ गयी है, तब वह यथा परिजीर्ण वस्त्रो का विसर्जन करे। उनका विसर्जन कर—या एक अन्तर (सूती वस्त्र) और उत्तर (ऊनी वस्त्र) रखे। या वह एक शाटक रहे। या वह अचेल (निर्वस्त्र) हो जाए।

इसी प्रकार अलग से दो वस्त्र, एक वस्त्र तथा निर्वस्त्रता का विधान है। इसे उन्होंने लाघव धर्म की पुष्टि तथा तप बताया है—

"लाघविय आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवई।"[७]

इस प्रकार भगवान् ने वस्त्रों का विधान करते हुए भी निर्वस्त्रता को महत्त्व दिया है। फिर भी निर्वस्त्रता के प्रति उनका कोई आग्रह नहीं था, इसलिए उन्होंने जहा निर्वस्त्रता का समर्थन करते हुए कहा—

"जे अचेले परिवुसिए स चिक्खति ओमोयरियाए।"[८]

—जो मुनि निर्वस्त्र रहता है वह अवमौदर्य तप का अनुशीलन करता है, वहा उन्होंने निश्चय दृष्टि से यह भी कहा—

"एते भो! णगिणा वुत्ता जे लोगमसि अणागमण धम्मिणो।"[९]

—धर्म-क्षेत्र मे नग्न उन्हे कहा गया है, जो दीक्षित होकर पुन गृहवास मे नही आते हैं।

इस प्रकार अचेल साधना को पूर्ण समर्थन देते हुए भी अपने नवीन धर्म-सघ मे मर्यादित वस्त्रो का विधान कर भगवान् महावीर दोनो परम्पराओ के समन्वय-सेतु बन गए। अनेक-अनेक मुमुक्षुओ को विशिष्ट तप साधना का मार्गदर्शन मिला तथा अनेक-अनेक साधको के लिए साधना का मार्ग प्रशस्त हुआ। सम्भवत महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् सवस्त्र और निर्वस्त्र साधको मे वस्त्र की निवार्यता और अनिवार्यता एक उग्र विवाद का विषय बन गया था। इसीलिए जहा वस्त्र विधान और नाग्न्य स्वीकार का निर्देश आया है, दोनो परम्पराओ मे सामजस्य बनाए रखने के लिए सूत्रकार को बार-बार सूचित करना पडा है कि—

"जमेय भगवया पवेइय तमेव अभिसमेच्च सव्वतो।
सम्मत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया।"[१०]

भगवान् ने जैसे अल्पवस्त्रता, सवस्त्रता या निर्वस्त्रता का प्रतिपादन किया है उसे उसी रूप मे जानकर सब प्रकार से सर्वात्मना समत्व का सेवन करे—किसी की अवज्ञा न करे।

सवस्त्र और निर्वस्त्र साधना के सम्बन्ध मे महावीर का दृष्टिकोण कितना ऋजु है, यह उल्लिखित प्रमाणो से स्पष्ट हो जाता है, साथ ही यह तथ्य भी अनावृत हो जाता है कि वर्तमान श्वेताम्बर और दिगम्बर

परम्पराओं में वस्त्र की अनिवार्यता तथा निवार्यता का जो अभिनिवेश है—वह कितना आधार-शून्य है।

सन्दर्भ

१ उत्तरज्झयणाणि २३।२६ ३
२ उत्तरज्झयणाणि २३।२३
३ आयारो ९।१।२
४ आयारो ९।१।४
५ आयारो ८।४।४२
६ आयारो ८।४।५०-५३
७ आयारो ८।४।५४-५५
८ आयारो ६।२।४०
९ आयारो ६।२।४३
१० आयारो ८।४।५६

५

स्वतंत्र चेतना के सजग प्रहरी : महावीर

दर्पण जितना अधिक स्वच्छ और निर्मल होता है, वाह्य पदार्थ उतनी ही स्पष्टता से उसमे प्रतिविम्वित होते हैं। घुधला दर्पण किसी भी विम्व को स्पष्ट अभिव्यक्ति नही दे सकता।

महावीर की चेतना स्वच्छ दर्पण के समान थी। अत विश्व-चेतना उसमे अपने यथार्थ रूप मे प्रतिविम्वित हुई। उन्होने देखा, हर चेतनाशील प्राणी मे विकास की अनन्त सम्भावनाए हैं, पर उनकी अभिव्यक्ति का एकमात्र अनुवन्ध है स्वतत्रता। व्यक्ति तव तक अपने व्यक्तित्व का स्वतत्र निर्माण नही कर सकता, जव तक उसे जीने की स्वतत्रता न हो, सोचने की स्वतत्रता न हो, विचाराभिव्यक्ति की स्वतत्रता न हो और कुछ भी करने की स्वतत्रता न हो। भगवान् महावीर ने सर्वज्ञता-प्राप्ति से पूर्व भी यह तीव्रता से अनुभव किया कि आज विश्व-चेतना की सवसे वडी छटपटाहट और अकुलाहट है स्वतत्रता-प्राप्ति की। लेकिन सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक मूल्य ही कुछ ऐसे वन चुके हैं, जिनके आधार पर उसी व्यक्ति या समूह को प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, जो दूसरो की स्वतत्र चेतना पर अपना अधिक से अधिक प्रभुत्व स्थापित कर सके।

महावीर ने इन मूल्यो का प्रतिरोध किया। सामाजिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र मे वैयक्तिक स्वतत्रता की प्राण-प्रतिष्ठा की।

फिर भी आश्चर्य होता है, कुछ व्यक्ति विश्वात्मा के साथ समत्व की अनुभूति करने वाले भगवान् महावीर के विचारो मे भी अधिनायकवाद

के दर्शन करते हैं।

मैंने सुना, एक साम्यवादी विचारक के मुह से कि—"महावीर अधिनायकवाद के समर्थक थे। वे एक महत्त्वाकाक्षी क्षत्रिय पुत्र थे। उनके पिता का राज्य छोटा था। प्रचलित परम्परा के अनुसार वे उनके उत्तराधिकारी होते। पर महावीर को इतने छोटे-से राज्य का शासक होना पसन्द नही था। प्रतिक्रियास्वरूप उन्होंने दूसरा मार्ग चुना। सन्यास स्वीकार कर कठोर साधना की। लोक-सग्रह किया और बहुत बडा धार्मिक समाज खडा कर लिया। क्षत्रिय-सुलभ हुकूमत की नीति और साम्राज्यवादी मनोवृत्ति मिटी नही थी, इसलिए वे अपने धर्म-समाज पर छा गए और हुकूमत की भाजा मे बोले—'आणाए मामग धम्म' —मेरी आज्ञा मे धर्म है। अत जो मैं कहूगा, वही तुम्हे करना होगा, अन्यथा धर्मभ्रष्ट हो जाओगे। इस प्रकार महावीर ने व्यक्ति के विचार-स्वातत्र्य की हत्या कर दी।"

मुझे आश्चर्य-मिश्रित खेद हो रहा था यह सुनकर। वस्तुत यह चिन्तन तथ्यहीन, निराधार और भ्रामक है। जहा तक मैंने जाना और समझा है, भगवान् महावीर ने व्यक्ति-स्वतत्रता को जितना महत्त्व दिया और उसकी स्वतत्र चेतना को कुचल देने वाले धनाधीशो, मठाधीशो और सामन्तो का जितना विरोध किया उतना शायद ही किसी महापुरुष ने किया हो।

भगवान् महावीर के युग मे राजतत्रीय और गणतत्रीय—दोनो प्रकार की शासन-प्रणालिया प्रचलित थी। महावीर जिस शासन-प्रणाली में पले-पुसे, वह गणतत्रीय प्रणाली थी जो कि आज के लोकतत्र या जनतत्र का ही पूर्व रूप था और उसके सस्थापक थे महावीर के मामा महाराज चेटक। इस दृष्टि से उनका जनतत्रीय विचारो से प्रभावित होना ही स्वाभाविक लगता है, न कि राजतत्रीय विचारो से।

तत्कालीन समाज-व्यवस्था मे प्रचलित जातिवाद, दासप्रथा और उपनिवेशवाद सचमुच मानवीय स्वतत्रता को कुचल देने वाले उपक्रम थे। महावीर ने उनके विरुद्ध आवाज उठाई। उन्होने कहा—सब प्राणी स्वतत्रता-प्रिय हैं। अत उन पर बलात् अपने विचार थोपना, उन्हे

अनुशासित करना और उन पर अपना आधिपत्य स्थापित करना घोर सामाजिक और नैतिक अपराध है। वस्तुत कोई भी प्राणी किमी के द्वारा आज्ञापयितव्य और परिग्रहीतव्य नही है।

भगवान् महावीर महान् अहिंसक थे। जवरन किमी पर अपने विचार थोपने को वे हिंसा मानते थे। इस स्थिति मे भला वे हुकूमत की भाषा मे कैसे बोल सकते थे कि—"मेरी आज्ञा मे धर्म है।" अपितु वे व्यक्ति के स्वतन्त्र चिन्तन को कितना महत्त्व देते थे, वह पढिए उन्ही के शब्दो मे—

"मइम पास[1] !—हे मतिमान् ! तू देख ! तू स्वय चिन्तनशील है, अत स्वय तत्त्व को पहचान।" क्या आदेशात्मक पदावली इतनी सुकोमल हो सकती है ?

महावीर ने कभी नही कहा—जो मैं कहता हू, वही तुम मानो। प्रत्युत् उन्होंने कहा—"से त जाणह, जमह वेमि।"[2]—जो मैं कह रहा हू, तुम भी उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति करो।

उन्होंने कहा—"से वसुम, सव्व-समन्नागय-पण्णाणेण अप्पाणेणं अकरणिज्ज पाव कम्म।" "त णो अन्नेसिं"[3]—बोधि-सम्पन्न साधक के लिए पूर्ण सत्य-प्रज्ञ अन्त करण से पाप-कर्म अकरणीय है। अत साधक उसका अन्वेपण न करे। साराश की भाषा मे तुम अकार्य का परित्याग इसलिए मत करो कि मैंने उसका निषेध किया है, अपितु सोच-समझकर करो।

शिष्य ने भी उत्तर मे यह नही कहा कि भन्ते ! यदि आपका आदेश है तो मैं अव पाप नही करूगा। लेकिन उसने कहा—

"तणो ! करिस्सामि ममुट्ठाए, मता मइम अभय विदित्ता।"[4]

—भते ! मैं आत्मोपलब्धि के लिए समुद्यत हो गया हू, अतः अव पाप नही करूगा। क्योकि मैंने इसी मे अभय जाना है और पापमय प्रवृत्ति को स्वय के लिए अहितकर माना है।

यद्यपि भगवान् ने 'आणाए सड्ढी मेहावी"[5]—आज्ञा मे श्रद्धा करने वाला मेधावी होता है—कहकर साधना-क्षेत्र मे श्रद्धा पर वहुत वल दिया, पर साथ-साथ अपने शिष्यो को तर्क, सशय और जिज्ञासा के उन्मुक्त

आकाश मे उडान भरने की भी खुली छूट दी थी। उन्होंने कभी नही कहा—अर्हत् वाणी वेदो की तरह अतर्कणीय है। बल्कि उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा—जो सशय करना जानता है, वह ससार को जानता है और जो सशय करना नही जानता वह ससार को भी नही जानता।[1]

इन सब सन्दर्भों को पढ लेने के पश्चात् इस जिज्ञासा का उभरना स्वाभाविक ही है कि महावीर ने व्यक्ति की स्वतन्त्र-चेतना और प्रज्ञा-जागरण को इतना महत्त्व देते हुए भी धर्म-सघ मे अपनी आज्ञा को सर्वोपरि कैसे माना ?

इस परिप्रेक्ष्य मे यह वाक्य कुछ आलोच्य हो जाता है। हालाकि इस वाक्य का पारम्परिक अर्थ हम यही करते हैं कि भगवान् ने कहा है—"मेरी आज्ञा मे धर्म है।" लेकिन लगता है, हम मूल अर्थ से बहुत दूर चले गए हैं। इसका कारण है शब्द की अनेकार्थता। मात्र शब्दात्मा को पकडने वाला उसकी गहराई मे पहुच नही सकता।

यह सच है कि महावीर ने 'आणाए मामग धम्म' का उद्घोष किया था, पर आलोच्य यह है कि 'आणाए' से उनका अभिप्रेत क्या था ?

देश-काल की परिस्थितिवश शब्द का अर्थ-बोध भी बदल जाता है। वह उत्कर्ष और अपकर्ष के झूले मे झूलता रहता है। 'आणा' शब्द भी इसका अपवाद नही रह सका।

'आणा' का सस्कृत रूप आज्ञा बनता है जो 'ज्ञा अवबोधने' धातु से निष्पन्न हुआ है। अत उसका मौलिक अर्थ ज्ञान ही होता है—'आसमन्तात् ज्ञायते अनया सा आज्ञा' जिसके द्वारा समग्रता से वस्तु-बोध हो, वह आज्ञा है। अत ज्ञान और आज्ञा—दोनो एकार्थक हैं। अत यह स्पष्ट है कि आज्ञा का अर्थ केवल आदेश या अनुशासन ही नही, ज्ञान भी है।

युगप्रधान, वाचन-प्रमुख आचार्यश्री तुलसी के सान्निध्य मे आचाराग सूत्र का स्वाध्याय करते समय यह प्रतीत हुआ कि हम इस लघु वाक्य का कितना विपरीत अर्थ करते आ रहे हैं। आचार्यश्री ने बताया कि 'आणाए' यह सप्तम्यन्त पद नही, अपितु 'क्त्वा' प्रत्ययान्त पद होना चाहिए। अत 'आज्ञा मे' की अपेक्षा आज्ञाय 'जानकर' यह

अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है।

भगवान् महावीर ने मुनि-धर्म का प्रतिपादन करते हुए कहा—वे अन्तर् और बाह्य ग्रन्थियो से उपरत मुनि मेरे धर्म को जानकर, उसका आजीवन सम्यक् अनुपालन करते हैं।

वृत्तिकार ने भी इसके दो अर्थ किए हैं। पहला—"आज्ञा से मेरे धर्म का सम्यक् अनुपालन करे।" यह अर्थ भी ज्ञानपरक ही है। यानी ज्ञानपूर्वक धर्म का अनुपालन करें। दूसरा अर्थ इस प्रकार किया है कि धर्म मेरा है, अत उसका तीर्थंकर की आज्ञा से सम्यक् अनुपालन करे।

'मामग धम्म'—यह कर्म-पद है, अत 'आणाए' का अर्थ आज्ञाय—'जानकर' ही तर्क-सगत हो सकता है।

यदि 'आणाए' को सप्तम्यन्त-पद माने तो भी इसका अर्थ यही हो सकता है कि मेरा धर्म आज्ञा मे अर्थात्—ज्ञान मे है।

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा का लक्षण ज्ञान है। अत उक्त वाक्य का यह अर्थ भी हो सकता है कि मेरा धर्म अर्थात् स्वभाव 'ज्ञान' मे है।

उक्त सभी दृष्टियो से यह भ्रम निराधार सिद्ध हो जाता है कि महावीर ने हुकूमत की भाषा मे कहा कि मेरी आज्ञा मे धर्म है। यदि उन्होने ऐसा कहा होता तो नि सन्देह इस वाक्य की सघटना इस प्रकार होती—"आणाए मामगाए धम्म,' यहा 'मामग' शब्द धर्म का विशेपण है, न कि 'आणाए' का।

भगवान् महावीर महान् अहिंसक थे। अत आदेशात्मक भाषा का प्रयोग तो दूर, प्रबुद्ध व्यक्ति के लिए वे उपदेश भी आवश्यक नही मानते थे। उन्होने कहा, "उद्देसो पासगस्स नत्थि"[७]—द्रष्टा को उपदेश की अपेक्षा नही। वे अपनी सम्पूर्ण जागृत चेतना से जन-जन के अन्तश्चैतन्य को जगाना चाहते थे। अपनी प्रखर ज्ञान-रश्मियो से विश्व-चेतना को आवृत करने वाली एक-एक परत को चीरकर उसे दिव्य आलोक से भर देना चाहते थे। इसी पवित्र अनुष्ठान के लिए उन्होने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी।

एक क्षण के लिए यदि मान भी लें कि महावीर ने अपनी आज्ञा को प्रतिष्ठित किया था, तो भी उनकी आज्ञा मे किसी भी तटस्थ विचारक को अधिनायकवाद के दर्शन नही होते। क्योकि महावीर की आज्ञा वहा

जाकर परिसम्पन्न हुई थी, जहा वे सम्पूर्ण सत्य को उपलब्ध हो चुके थे। वे सत्यमय वन चुके थे। व्यक्ति और सत्य का द्वैध मिट गया था। अत महावीर की आज्ञा व्यक्ति की आज्ञा नही थी, अपितु सत्य की आज्ञा थी। उसको केन्द्र मानकर चलने वाला कोई भी व्यक्ति चेतना के आवरणो को क्षीण कर उस परम सत्य को प्राप्त कर सकता है।

अस्तु, भगवान् महावीर ने व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना को कुण्ठित नही किया, अपितु वे व्यक्ति की स्वतन्त्र-चेतना के सजग प्रहरी थे। उन्होंने युग-युग से राजनैतिक, सामाजिक, वैयक्तिक और आध्यात्मिक परतन्त्रता की कारा मे छटपटाते हुए विश्व-मानव को स्वय के अस्तित्व और कर्तृत्व का वोध दिया। स्वतन्त्रता का वोध दिया। उसको प्राप्त करने के लिए सम्यक् दिशा-वोध दिया और उस दिशा मे आगे बढने के लिए उसे गतिशीलता भी प्रदान की।

फलत उस युग मे परिव्याप्त जातिवाद, दास-प्रथा, साम्राज्यवादी मनोवृत्ति और उपनिवेश परम्परा आदि की जडें हिल गयी।

उस परम तेजस्वी पुरुष के अलौकिक स्वतन्त्रता-सग्राम ने युग-चेतना को वन्धन-मुक्त किया है और युग-युग तक वह मुक्ति की प्रेरणा देता रहेगा।

सदर्भ

१ आयारो
२ आयारो २।५।१४०
३ आयारो ५।३।५५-५६
४ आयारो १।५।९०-९१
५ आयारो ३।४।८०
६ आयारो ५।१।१६
७ आयारो २।३।७३

६

तपोयोग : महावीर की दृष्टि में

चेतना जगत् का सर्वोपरि लक्ष्य है दु ख-मुक्ति। दु ख का हेतु है द्वन्द्व। द्वन्द्व का जनक है जड और चेतन का गठबन्धन। जहा इनका गठबन्धन नही, वहा द्वन्द्वो की जटिल समस्याए भी नही। इस सृष्टि के दो ही छोर निर्द्वन्द्व हैं—एक मृतक शरीर, जो अचेतन है और दूसरा है मुक्तावस्था, जहा है मात्र चेतना की एकतन्त्रीय सत्ता।

अध्यात्म-साधक का लक्ष्य है उस निर्द्वन्द्व अवस्था की प्राप्ति, जो चेतना के परम उत्कर्ष से फलित होती है। यह महान् लक्ष्य, महान् विसर्जन सापेक्ष है। सचमुच उस विसर्जन मे ही वह सृजन निहित है जिसे व्यक्त करने के लिए हर भाषा दरिद्र है।

इसीलिए मनीषियो ने अनुभूति के स्वर मे गाया—

'वता लोगस्स सजोग', 'जहित्तु पुव्व सजोग'—बाह्य जगत् के साथ जुडे सम्बन्धो का विसर्जन ही लक्ष्य-प्राप्ति का प्रशस्त पथ है। पर जब तक जीवन है, बाह्य जगत् से विविध अपेक्षाए जुडी हुई हैं, तब तक उसमे सर्वथा विलग कैसे हो सकते हैं? इसके समाधान मे बताया गया—"अणिहे"—अस्पृह रहो। बहिर्जगत् के प्रति अलिप्ति के भाव द्वन्द्व-उपरति का सुन्दर उपाय हैं।

द्वन्द्वो के आवर्त्त-प्रत्यावर्त्तो से बचाव के लिए यह वाक्य सुरक्षा-कवच है—"एगमप्पाण सपेहाए"[1]—आत्म-एकत्व को देखो। सयोग और सयोगज द्वन्द्वो को वृत्तियो से स्वीकार मत करो। यह अस्वीकार ही

प्रतिकार का सही मार्ग है।

वहिर्जगत् से सम्बन्ध जोडने के दो आधार हैं—मानसिक अपेक्षा और दैहिक अपेक्षा। मानसिक अपेक्षाओ का सवरण साधक कर भी लें, पर दैहिक अपेक्षा का विसर्जन कैसे हो? यह एक प्रश्न है, पर यह भी निर्विवाद है कि सीमित दैहिक अपेक्षाए भी मानसिक अपेक्षाओ के पर्यावरणो मे असीमित बन जाती हैं और अधिकाश द्वन्द्वो का स्रोत भी। इसलिए साधक के लिए अपेक्षित है कि वह अनिवार्य शारीरिक अपेक्षाओ की पूर्ति करते हुए भी 'एगमप्पाण सपेहाए'—आत्मा को उससे सर्वथा भिन्न समझे। 'आत्मा चान्यो देहश्चान्य'—इस भेद-विज्ञान से देहाध्यास छूट जाता है, जो कि साधनापथ मे सबसे बडा अवरोध है। देहाध्यास को मिटाने के लिए वताया गया कि साधक मुयच्चा—मृतार्चा बने, देह परिकर्म का वर्जन करे। यह स्थिति भी भेद-विज्ञान की तीव्रता से स्वत प्राप्त हो जाती है।

शारीरिक ममत्व का विसर्जन वहुत ऊची साधना है, लेकिन इतने मे साधना की इतिश्री नही हो जाती। यद्यपि शरीर साधना और बन्धन-मुक्ति का हेतु है, पर इस सत्य को नकारा नही जा सकता कि वह स्वय बन्धन है, मुक्ति का वाधक है। साधना की पूर्णता तव होती है जव देह भी छूट जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि साधक के लिए साधना-काल में या उसकी प्रथम भूमिका मे जहा देहाध्यास त्याज्य होता है, वहा उसकी अन्तिम भूमिका या सम्पन्नता पर स्वय देह भी त्याज्य हो जाता है।

इसलिए परम द्रष्टा महावीर ने कहा—"इह आणाकखी पडिए अणिहे एग मप्पाण सपेहाए धुणे शरीर, कसेहि अप्पाण जरेहि अप्पाण"[२] —आज्ञाप्रिय पडित एक आत्मा की ही सप्रेक्षा करता हुआ अनासक्त हो जाए। वह कर्म शरीर को प्रकम्पित करे और (कषाय) आत्मा को कृश करे, क्षीण करे।

"विगिंच मस-सोणिय"[३]—मास और शोणित का विवेक करे। यहा शरीर शब्द का वाच्यार्थ स्थूल-शरीर नही है अपितु सूक्ष्म शरीर—कर्म शरीर है। लेकिन केवल स्थूल शब्दो की दुनिया मे विचरने वालो की

पकड मे कैसे आए सूक्ष्म अर्थात्मा।

इन सूक्ष्म और गम्भीर वाक्याशो का हार्द न समझने का ही परिणाम है कि भगवान् महावीर की अत्यन्त वैज्ञानिक साधना-पद्धति भी भ्रान्ति का विषय बन गयी। बहुतो की धारणा बन गयी कि जैन साधना कष्ट-साध्य है। महावीर का साधना-दर्शन यही है कि कठोर तपस्या द्वारा शरीर को सुखा दो। जीते-जी मर जाओ, क्योकि शरीर को जितना दुःख दोगे, उतने ही सुखी बनोगे।

बौद्ध साहित्य मे इस भ्रान्त-धारणा की जानकारी और स्पष्ट हो जाती है। मज्झिम-निकाय मे एतद्विषयक एक विस्तृत प्रसग आया है। उसका साराश यह है कि—"बुद्ध ने कहा—मैं तब राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर विहार कर रहा था। ऋषिगिरि की कालशिला पर अनेक निगण्ठ खडे रहने का व्रत ले, आसन छोड उपक्रम करते थे, दुःख, कटु, तीव्र वेदना भोगते थे। मैं साय ध्यान से निवृत्त हो उनके पास गया। कृच्छ तपस्या का कारण जानना चाहा। उन्होने कहा—यह ज्ञातपुत्र का दर्शन है। वे कहते हैं—सुख से सुख-प्राप्ति नही, अपितु दुःख से सुख-प्राप्ति होती है। हमे इस दर्शन मे रुचि है, इसलिए हम यह तीव्र वेदना भोग रहे हैं।

इस अवतरण की आलोचना-प्रत्यालोचना प्रस्तुत निबध का विषय नही, लेकिन इतना ज्ञातव्य अवश्य है कि भगवान् महावीर का उक्त देह-दमन और कष्ट-सहन का सिद्धात कदापि नही था। देह का प्रश्न उनके सामने गौण था। प्रमुख था आत्म-विकास या लक्ष्य-प्राप्ति का, जो कि प्रत्येक साधक के लिए अनुकरणीय है। उसके लिए साधक को कितना ही विसर्जन और बलिदान क्यो न करना पडे, उसे स्वीकार है। वहा देह के प्रति स्वत्व की भावना तो स्वत छूट जाती है। यह है लक्ष्य के प्रति पूर्ण समर्पण, जो कि लक्ष्य की ऊचाई को पाने वाले प्रत्येक सत्पुरुष को करना होता है। स्वय बुद्ध भी कितने समर्पित थे अपने लक्ष्य के प्रति। उन्होने साधना के प्रारम्भ मे दृढ सकल्प किया कि—

"इहासने शुष्यतु मे शरीर, त्वगस्थिमास प्रलय प्रयातु
अप्राप्य बोधि बहुकल्पदुर्लभा, नैवासना त्कायमिद चलिष्यति।"

यदि बुद्ध की यह साधना कष्ट-साधना की परिधि मे नही आती, तो भगवान् महावीर के तपो-दर्शन को भी मात्र कष्ट कैसे कहा जा सकता है ? [वस्तुत आत्मोपलब्धि के लिए कुछ किया नही जाता अपितु जो किया जा रहा है उसे छोडना होता है। यही गम्भीर रहस्य भगवान् महावीर ने समझाया था कि आत्मोदय या सत्योपलब्धि के लिए सब कुछ छोड दो, यहा तक कि देह-परिकर्म या देह-चिन्ता को भी। इसी तथ्य को हमने 'तपस्या' के नाम से पहचाना। वस्तुत यह तपस्या क्रिया नही, अपितु क्रिया-निवृत्ति ही है। काश, इस मौलिक चिन्तन की तह तक हम पहुच पाते !

यदि शरीर-कष्ट ही भगवान् महावीर को अभीष्ट होता तो वे अपने शिष्यो को दीक्षित करते ही अनशन या घोर तपस्या का आदेश देते अथवा कष्ट-प्राप्ति के अन्यान्य उपाय भी बतलाते, पर ऐसा उन्होंने किया नही। हा, उन्होंने तपस्या को साधना-पक्ष मे अनुपयोगी नही माना। तपोयोग सम्बन्धी उनका स्वतन्त्र चिन्तन क्या था ? यह आचाराग सूत्र के इस लघु वाक्य से स्पष्ट हो जाता है, जिससे आज तक हम स्वय अनजान थे। वह वाक्य है—

"आवीलए, पवीलए, निप्पीलए,
जहित्ता पुव्व सजोग, हिच्चा उवसम"[४]

—मुनि पहले (वस्तु और प्राणी से होने वाले) सम्बन्ध को त्याग, इन्द्रिय और मन को शान्त कर (शरीर का) आपीडन, फिर प्रपीडन और फिर निष्पीडन करे। भगवान् महावीर ने कहा—"मुनि-जीवन की साधना के लिए दो प्रारम्भिक अनुबध हैं—

१ सम्बन्ध का त्याग।

२ इन्द्रिय और मन की उपशाति।

इस स्थिति के प्राप्त होने पर वह साधना की तीन भूमिकाओ से गुजरता है। प्रथम भूमिका प्रव्रजित होने से लेकर अध्ययन-काल तक की है। उसमें वह ध्यान का अल्प अभ्यास और श्रुत अध्ययन के लिए आवश्यक तप करता है।

दूसरी भूमिका शिष्यो के अध्यापन और धर्म के प्रचार-प्रसार की

है। इसमे वह ध्यान की प्रकृष्ट साधना और कुछ लम्बे उपवास करता है।

तीसरी भूमिका शरीर-त्याग की है। जब मुनि आत्महित के साथ-साथ सघहित कर चुकता है, तब वह समाधिमरण के लिए शरीर-त्याग की तैयारी मे लग जाता है। उस समय वह दीर्घकालीन ध्यान और दीर्घकालीन तप (पाक्षिक, मासिक आदि) की साधना करता है।

ध्यान और तप की साधना के औचित्य और क्षमता के अनुपात मे ही स्थूल शरीर के आपीडन, प्रपीडन और निष्पीडन का निर्देश दिया गया है। कर्म शरीर का आपीडन, प्रपीडन और निष्पीडन इसी के अनुरूप होगा। शरीर से चेतना के भेदकरण की भी ये तीन भूमिकाए हैं।"[५]

उल्लिखित विश्लेषण के आलोक मे महावीर का तपोयोग सम्बन्धी दृष्टिकोण बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। इसमे हमे तप के प्रति महावीर के एकान्तिक आग्रह की झलक भी नही मिलती। स्वरूपोपलब्धि के लिए उन्होने ध्यान, स्वाध्याय और तपोयोग को बराबर महत्त्व दिया है।

वस्तुत मजिल एक है, पथ विभिन्न। पथिक किसी भी पथ से उसे पा सकता है। भगवान् महावीर की दृष्टि आग्रह-शून्य थी। वे किसी कार्य के लिए दबाव नही डालते, किन्तु स्वय साधक की क्षमता और रुचि पर उसे छोड देते थे।

यह था उनका विवेक-दर्शन। उन्होंने उक्त विभिन्न अपेक्षाओ को दृष्टि से ओझल कर चलने वाले तपस्वी को बाल तपस्वी और अविवेकपूर्ण तपस्या को बाल तप कहकर उसका खण्डन किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मात्र तपस्या के पक्षपाती नही थे।

आवीलए···इस सूत्र से हमे भगवान् महावीर की तपोयोग सम्बन्धी दो महत्त्वपूर्ण दृष्टियो की ससूचना प्राप्त होती है। पहली तो यह कि वे साधना के क्षेत्र मे तपस्या से भी अधिक महत्त्व देते थे श्रुताध्ययन को, क्योकि वही उसके तिमिर-पूरित पथ मे आलोक-कण बिखेरता है, जिसके अभाव मे उत्कृष्ट कोटि का तप भी मात्र 'ताप' बनकर रह जाता है।

दूसरी बात यह है कि लक्ष्य-प्राप्ति के लिए गौतम बुद्ध की तरह, वे तपस्या को अनुपयोगी ही नही, प्रत्युत् उपयोगी मानते थे।

बुद्ध की तरह मात्र ध्यान ही उनकी साधना का पहलू नही था अपितु ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप—ये चारो ही उनकी साधना के पहलू थे। यद्यपि ज्ञान, श्रद्धा और आचरण—ये ही आत्म-विकास के लिए पर्याप्त हो सकते हैं, फिर भी तपस्या की अपनी विशिष्ट प्रयोजनीयता है।

साधना की अनिवार्य अपेक्षा है तितिक्षा। वह देहाध्यास के रहते प्राप्त हो नही सकती। तपस्या देहाध्यास को मिटाने की सुन्दर प्रक्रिया है।

भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट साधनाक्रम मे तप, श्रुत और ध्यान आदि अन्यान्य पहलुओ का सुन्दर समन्वय है। यह क्रम न केवल कष्ट-सहन है और न ही कष्टो से पलायन कर मात्र चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न।

उपवासादि तपस्या का महत्त्व तो चिकित्साशास्त्र ने भी स्वीकार किया है। 'प्राकृत चिकित्सा' और 'मानवमूत्र चिकित्सा' मे इसका स्थान सर्वोपरि है। बिना दीर्घकालीन उपवास के ये चिकित्सा विधिया ईप्सित फल नहीं लाती।

आयुर्वेदिक दृष्टि मे दीर्घकालीन उपवास से शरीर मे रासायनिक परिवर्तन होता है। शारीरिक दोषो का शोधन होता है। वहा बताया गया है कि अग्नि आहार को पचाती है और उपवास वात, पित्त और कफ जनित दोषो को। अत स्वास्थ्य की दृष्टि से भी तपस्या के महत्त्व को नकारा नही जा सकता। स्वास्थ्य का साधना के साथ गहरा सम्बन्ध है। साधना स्वास्थ्य-सापेक्ष है। तपस्या स्वास्थ्य-प्राप्ति और सुरक्षा का अप्रतिहत उपाय है।

दूसरी दृष्टि से भी तपोयोग की उपयोगिता निर्विवाद है। जैन साधना के मुख्य दो पहलू है—सवर और निर्जरा। इन्हे ही सयम और तप की अभिधा से अभिहित किया गया है। इन्हें निरोध और शोधन की प्रक्रिया भी कह सकते हैं। इन दोनो का समन्वित रूप ही स्वास्थ्यप्रद है। शोधन-विहीन निरोध अन्दर सडान्ध पैदा कर देता है तो बिना निरोध का शोधन भी अर्थहीन है, क्योकि विजातीय तत्त्वो का आगमन वहां निर्बाध है। तपस्या विजातीय तत्त्वो का रेचन कर वृत्तियो का शोधन

करती है।

अस्तु, इन विविध दृष्टियो से अध्ययन करने पर विश्वास के साथ हम मान सकते हैं कि भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट तपोयोग की साधना पूर्ण वैज्ञानिक है। वह आध्यात्मिक और आधिदैहिक दोनो पक्षो मे परमोपयोगी और स्वीकार्य है।

सन्दर्भ

१ आयारो ४।३।३२
२ आयारो ४।३।३२
३ आयारो ४।४।४३
४ आयारो ४।४।४०
५ आयारो सूत्र ४० की टिप्पणी, पृ० १७१।

७

मानवीय एकता के उद्गाता : महावीर

एक मुनि थे। बडे तपस्वी थे। उनकी घोर तप साधना की महक से परिपार्श्व महक उठा था। हर कही उनकी प्रशसा की गूज थी। मनुष्यो का तो कहना ही क्या, एक देव भी उनकी साधना से अभिभूत हो उठा। वह प्रतिक्षण तपस्वी मुनि की सेवा मे रहने लगा। प्रतिदिन विनम्र प्रार्थना करता—'मुझे भी कोई सेवा-कार्य दीजिए।' मुनि थे निस्पृह, आत्म-निर्भर और साधनाशील। उन्हें क्या अपेक्षा थी' किसी की सेवा और सहयोग की ? लेकिन देव की प्रार्थना का क्रम टूटा नही।

एक बार मुनि कहीं जा रहे थे। किसी चाण्डाल से टकरा गए। दुर्वल तो थे ही, भूमि पर गिर पडे। तपस्या से शरीर क्षीण हो चुका था, पर आवेग पर विजय अभी तक नही पा सके थे। वे तिलमिला उठे। सारी शक्ति वटोरकर उठे और लगे चाण्डाल पर गरजने और वरसने—'अधे कही के ! कैसे चलते हो ? कुछ दिखता नही ?'

सामने वाला तो चाण्डाल था ही। उसने कहा—'मैं अधा हू तो तुम तो देखते हो। वचकर निकलते, क्यो टकराए मेरे से ?' दोनो एक-दूसरे को कोसने लगे। चाण्डाल तमतमा उठा और एक ही धक्के से मुनि को फिर धराशायी वना दिया।

एक चाण्डाल से इस प्रकार पछाडा जाना मुनि के अह पर गहरी चोट थी। पर विवश थे। शारीरिक क्षमता इतनी नहीं थी कि उससे अपमान का वदला ले सकें। किसी प्रकार अपने स्थान पर पहुचे। वह

अप्रिय घटना हृदय को कचोट रही थी। प्रतिशोध की आग सुलग रही थी। इतने में ही देव उपस्थित हुआ और कहने लगा—'मुनिश्रेष्ठ ! मुझे भी निर्देश दें किसी सेवा-कार्य का।' सुनते ही मुनि उबल पड़े—'सेवा का दम भरते हो, देखी तुम्हारी सेवा ! वह बातो से नही होती। सदा सेवा-सेवा का गीत गाते हो और सेवा के समय न जाने कहा भटकते रहते हो?'

देव ने कहा—'क्षमा कीजिए, मुनिवर। उस समय मैं पहचान नहीं सका था कि कौन मुनि है और कौन चाण्डाल ? ऐसी स्थिति मे मैं किसकी सहायता करता ?'

मुनि समझ गए कि वस्तुत मैं भी उस समय चाण्डाल बन गया था। क्रोध चाण्डाल होता है। मैं क्रोधाविष्ट बन गया, अत उस चाण्डाल मे और मुझ मे विभेद ही क्या रहा ?

इस प्रकार हमने जाना कि एक परम तपस्वी मुनि भी अनियत्रित वृत्तियो के कारण चाण्डाल बन जाता है। ठीक इसी प्रकार अपनी दूषित वृत्तियो और वासनाओ पर नियन्त्रण स्थापित करने वाला एक चाण्डाल भी ऋषि बन सकता है। महाभारत मे लिखा है—

'तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिकारणम्।'

—निम्न कुल मे जन्म लेने वाला व्यक्ति भी तपस्या के द्वारा ब्राह्मण बन जाता है। अत जाति व्यक्ति की उच्चता और नीचता का कारण नही बन सकती।

"सर्व-जातिषु चाण्डाला, सर्व जातिषु ब्राह्मणा ।
ब्राह्मणेष्वपि चाण्डालाश्चाण्डालेष्वपि ब्राह्मणा ॥'

—सब जातियो मे चाण्डाल मिल सकते हैं और सब जातियो मे ब्राह्मण। ब्राह्मण भी यदि आचार-भ्रष्ट है तो वह हीन है और हीन कहा जाने वाला भी शील और सदाचार सम्पन्न है तो वह ब्राह्मण है, महान् है।

फिर भी एक ऐसा युग आया, जब उक्त उदार दृष्टिकोण की भरसक उपेक्षा हुई। भारतीय समाज मे व्यक्ति का अकन उसके व्यक्तित्व, कर्तृत्व और चरित्र के आधार पर नही अपितु जाति के आधार पर होने लगा।

भारतीय इतिहास के पृष्ठ ऐसी घटनाओ से भरे पड़े हैं, जहा जातीयता के नाम पर दानवता को खुलकर खेलने का अवसर मिला।

मानवता के साथ खिलवाड हुआ। जातीयता के आधार पर इन्सान के साथ जो क्रूरता और निर्दयता का व्यवहार हुआ वह इतिहास की बहुत बडी दुर्घटना कही जा सकती है।

'स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्' कहकर शूद्रो को विकास के हर अवसर से वचित रखा गया। अनेक-अनेक उदीयमान प्रतिभाओ को जलने से पहले ही बुझा दिया गया। वेद-वाक्यो का उच्चारण करने वाले शूद्रो की जीभ काट दी गयी। वेद-वाक्यो का श्रवण करने वालो के कानो मे गर्म शीशा डाल दिया गया और न जाने क्या-क्या घटित हुआ जातीयता के आधार पर।

द्रोणाचार्य जैसे महान् विद्वान् गुरु भी कर्ण को शस्त्र-विद्या देने को राजी नही हुए, क्योकि उनकी दृष्टि मे वह सूतपुत्र था। अर्जुन आदि राजकुमारो के साथ लक्ष्य-वेध की प्रतियोगिता मे सम्मिलित होने का अधिकार उसे नही मिला, क्योकि वह सूतपुत्र कहलाता था। विनय-भक्ति और श्रद्धापूर्वक उसने परशुराम से वह विद्या प्राप्त भी कर ली, लेकिन जातीय अभिशाप उसके भाग्य के साथ अठखेलिया कर रहा था। गुरु को उसके क्षत्रिय होने का भ्रम हुआ। कर्ण को अभिशाप मिला कि 'कठिन परिश्रम और अतीव निष्ठा से प्राप्त सर्वशक्तिमान आयुध अन्तिम समय मे उसके काम नही आएगा। उस समय वीर कर्ण के कोमल मानस पर क्या बीती थी, इसका अकन परशुराम क्या कर सकते थे? उनके मानस मे तो जातीय विद्रोह और प्रतिशोध की आग सुलग रही थी। क्षत्रियो और ब्राह्मणो का प्रलयकारी युद्ध जातीय उन्माद का ही एक उदाहरण था।

एकलव्य जातीय अभिशाप से प्रताडित था। द्रोणाचार्य के सान्निध्य मे अध्ययन करने का वह अधिकारी नही था। उनकी प्रतिमा पर अपनी अगाध श्रद्धा, भक्ति और विश्वास को केन्द्रित कर वह धनुर्विद्या मे निष्णात बन गया। लेकिन भेद खुलने पर अपने दाहिने कर का अगुष्ठ गुरु-दक्षिणा मे देना पडा। उसका कला-कौशल बेकार हो गया। अपना कौशल प्रदर्शित करने का अवसर उसे नही मिला।

जातीय अभिशाप से प्रताडित, दलित और शोषित न जाने कितने और एकलव्य अपने भाग्य को कोस रहे होगे कि—

'कौन जन्म लेता किस कुल मे, आकस्मिक ही है यह बात।
छोटे कुल पर हाय ! यहा होते रहते कितने आघात॥'

उनका यह करारा व्यग्य एक गहरा प्रश्नचिह्न उपस्थित कर देता है और तथाकथित कुलीन व्यक्तियो को चिंतन के लिए विवश करता है

'हाय ! जाति छोटी है तो फिर सभी हमारे गुण छोटे !
जाति बडी तो बडे बने, फिर लाख रहें चाहे खोटे !'

जातिवाद का प्रश्न नया नही, हजारो वर्ष पुराना है। महावीर और बुद्ध के समय मे इसकी चर्चा ने अत्यन्त ही उग्र रूप धारण कर लिया था। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि सभी क्षेत्र इससे प्रभावित हो चुके थे। इसके मूल मे दो प्रकार की विचारधाराए रही हैं—एक ब्राह्मण-परम्परा की, दूसरी श्रमण-परम्परा की। ब्राह्मण-परम्परा ने जाति को तात्त्विक माना और 'जन्मना जाति' का सिद्धान्त स्थापित किया। श्रमण-परम्परा ने जाति को अतात्त्विक माना और 'कर्मणा जाति' का पक्ष प्रस्तुत किया। ब्राह्मण-परम्परा ने कहा—ब्रह्म के मुख से जन्मने वाले ब्राह्मण, भुजा से जन्मने वाले क्षत्रिय, उरु से जन्मने वाले वैश्य और पैरो से जन्मने वाले अन्त्यज हैं। श्रमण-परम्परा ने इस मान्यता का विरोध किया और यह पक्ष स्थापित किया कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कर्म (आचरण) से होते हैं। अत जाति के आधार पर किसी को हीन मानना महान् अपराध है और मानवता का अपमान है। जातिवाद के विरुद्ध इस महान क्रांति के सूत्रधार थे भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध। उन्होने जातिवाद की तात्त्विकता का घोर विरोध किया।

वस्तुत प्रारम्भ मे मनुष्य जाति एक ही थी। सामाजिक अपेक्षाओ ने उसे विभक्त कर दिया। समाज की मुख्य चार अपेक्षाए होती हैं—विद्यायुक्त सदाचार, रक्षा, व्यापार और शिल्प। समाजशास्त्रियो की सूझ-बूझ ने मानव-समाज को योग्यतानुरूप चार भागो मे विभक्त कर दिया—विद्यायुक्त सदाचार-प्रधान ब्राह्मण, रक्षाप्रधान क्षत्रिय, व्यवसाय-प्रधान वैश्य और शिल्प तथा सेवा-प्रधान शूद्र कहलाए।

जैन परम्परा के अनुसार भी पहले मनुष्य जाति एक ही थी। भगवान्

ऋषभ राजा बने, तब वह दो भागो मे विभक्त हो गई—जो व्यक्ति राज्याश्रित बने, वे क्षत्रिय कहलाए और शेष सब शूद्र। अग्नि की उत्पत्ति ने शिल्पकला को जन्म दिया। विनिमय की दिशा खुली। व्यवसाय करने वाले वैश्य कहलाए। भगवान् प्रव्रजित हुए। भरत चक्रवर्ती बने। उन्होंने एक स्वाध्याय मण्डल की स्थापना की। उसके सदस्य ब्राह्मण कहलाए। मनुष्य-जाति चार भागो मे बट गई।

गहराई से अध्ययन करने पर पता चलता है कि वैदिक वर्ण-व्यवस्था के मूल मे भी ऐसी ही सामाजिक अपेक्षाए रही हैं। उसके अनुसार भी प्रारम्भिक आर्य लोग सभी एक ही वर्ग के थे। प्रत्येक व्यक्ति पुरोहित और योद्धा, व्यवसायी और किसान था। किन्तु जीवन की जटिलता ने वर्ग-भेद को जन्म दिया।

कतिपय विशिष्ट परिवार, जो शिक्षा, कला और बुद्धिमत्ता मे प्रख्यात थे, वे पुरोहित कहलाए। पुरोहित का अर्थ है—महत्त्वपूर्ण कार्यों मे जिसे सबसे आगे रखा जाए। पुरोहित वर्ग आत्म-सम्बन्धी चिंतन मे निमग्न रहता और जन-साधारण के उच्चतम निर्माण के पवित्र कर्तव्य को जागरूकता से निभाता था। जो ब्राह्मण विद्वानो के आश्रयदाता थे तथा जिनके कन्धो पर शासन-सचालन और रक्षा-व्यवस्था का कार्य था वे राजा क्षत्रिय कहलाए। इनके अतिरिक्त सभी व्यक्ति एक ही श्रेणी के थे, जो कि वैश्य कहलाए। कहते हैं, आर्यों ने जिन आदिम जातियो को मत परिवर्तन कराकर, अपने मे मिला लिया, वे शूद्र कहलाए। पर उस समय किसी मे भी जाति को लेकर उच्चता और हीनता के भाव नही पनपे थे। सभी अपने-अपने दायित्वो का सजगता से पालन करते थे। एक-दूमरे के हित-साधन को अपना परम कर्तव्य मानते थे। लेकिन जब एक वर्ग मे अह भाव जागृत होने लगा तो दूमरे का स्वाभिमान भी सजग हो उठा। यही से मानवीय एकता के लिए खतरा पैदा हो गया। सघर्षों के ज्वालामुखी फूटने लगे।

इस स्थिति मे समता के महान सगायक भगवान् महावीर ने जातिवाद के नाम पर पनपने वाले अह, सामाजिक विभाजन और जातीयता के आधार पर होने वाले अत्याचारो पर गहरी चोट की।

मानवीय धरातल पर एकता, समता और सह-अस्तित्व के सिद्धान्तो को पुन प्रतिष्ठित कर जातिवाद की मजबूत जडो को झकझोर दिया। सामाजिक स्तर पर उन्होने मानवीय एकता का आदर्श प्रस्तुत किया।

उन्होने कहा—

"से असइ उच्चागोए, असइ णीयागोए।
नो हीणे णो अइरित्ते, नो पीहए।"[1]

यह पुरुष अनेक वार उच्च-गोत्र और अनेक वार नीच-गोत्र का अनुभव कर चुका है, अत न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त, इसलिए वह उच्च-गोत्र की स्पृहा न करे।

उन्होने कहा—मनुष्य-मनुष्य समान है। आचरण की पवित्रता और अपवित्रता ही उसकी उच्चता और हीनता की प्रतीक है, न कि जाति। उन्होने जातिवाद के विरुद्ध तीव्र क्रान्ति की। उसके लिए जन-मानस को जागृत किया। फलत इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह उच्चकोटि के विद्वान् ब्राह्मण अपने बृहत् शिष्य परिवार के साथ महावीर के शिष्य वने। यह लम्बे समय से चले आ रहे क्षत्रियो और ब्राह्मणो के विरोधी भाव को समाप्त करने का प्रशस्त कदम था। उन्होने अपने धर्म-सघ मे हरिजनो को भी सम्मिलित किया और उन्हे भी साधना और आत्म-विकास का समान अधिकार प्रदान किया। महावीर की इस क्रान्ति के फलस्वरूप समाज की जाति-विषयक वद्धमूल धारणाए उखडने लगी। जातिवाद की शृखलाए शिथिल हुई और वैदिक परम्परा पर भी इसकी गहरी छाप पडी।

आज जबकि भारतीय समाज का रथ जातीयता एव अस्पृश्यता के कीचड मे फसा जा रहा है, अन्य देशो मे भी रग, जाति व उपजातियो के आधार पर भेदभाव व सघर्ष चालू है, महावीर का मानवीय एकता का सन्देश समग्र मनुष्य-जाति के लिए समानता, सहअस्तित्व और सौहार्दपूर्ण सामाजिक सरचना का पावन उपक्रम प्रस्तुत करता है।

सन्दर्भ

१ आयारो २।३।४९

८

महावीर की वैज्ञानिक देन : स्याद्वाद

आदीप माव्योम समस्वभाव, स्याद्वाद मुद्रानति भेदिवस्तु ।
तन्नित्यमेवैकमनित्य मन्यदिति त्वदाज्ञा-द्विषता प्रलापा ॥

आचार्यश्री हेमचन्द्र ने अर्हत्-स्तुति करते हुए कहा—प्रभो, दीपक से लेकर आकाश-पर्यन्त सर्व पदार्थ समान हैं, क्योकि वे स्याद्वाद की सीमा का अतिक्रमण नही करते। स्याद्वाद वह सक्षम शासक है, जिसकी सार्वभौम प्रभुसत्ता के स्वीकरण मे ही वस्तु का 'स्वत्व' सुरक्षित रह सकता है। इस स्थिति मे आकाश को नित्य ही मानना तथा दीपक को अनित्य ही मानना आपके प्रतिपक्षियो का प्रलाप मात्र है।

इस लघुतम पद्य मे स्याद्वाद का गूढतम रहस्य छिपा हुआ है। प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मात्मक है, यह जैन दर्शन का चिंतन-पक्ष है। उसके अनुसार हर वस्तु एक क्षण मे, एक साथ, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, अभिलाप्य-अनभिलाप्य आदि अनन्त विरोधी तथा अविरोधी स्वभावो को अपने मे समेटे हुए है। एक-एक धर्म अखण्ड वस्तु नही, उनका वर्गीकृत रूप ही अखण्ड वस्तु है। उन अनन्त वस्तु-स्वभावो को जानने के लिए अनन्त दृष्टियो की अपेक्षा होती है, क्योकि एक दृष्टि वस्तु के एक पहलू को ही अभिव्यक्त करती है। इसलिए हमारा यह ज्ञान सम्पूर्ण सत्य नही, सत्याश है। सम्पूर्ण दृष्टियो का वर्गीकरण ही सम्पूर्ण सत्य होता है। चिन्तन की इस पद्धति का नाम 'अनेकान्त' है। एकान्त दृष्टि हमे सत्य से भटका देती है। चार व्यक्तियो ने एक मकान के विभिन्न दिशाओ से

फोटो लिये। चारो ही फोटो चार प्रकार के थे। चारो व्यक्तियो मे विवाद छिड गया। सभी ने अपने फोटो को सही और दूसरे को गलत ठहराया। लेकिन सच यह था कि उनमे से गलत किसी का भी फोटो नही था। विरोधी दिशाए उनके विवाद का कारण वन गयी। एक दिशा से लिये गए फोटो मे मकान का एक भाग ही अभिव्यक्त हो सकता है। चारो को मिलाकर देखने से विरोध स्वत विलीन हो गया। वैसे ही हमारी एक दृष्टि वस्तु के एक कोने का ही सस्पर्श कर पाती है, फलत वस्तु का सम्यक् वोध नही हो पाता। इस स्थिति मे अनेक उलझनें सामने आती हैं। पर उन दृष्टियो के समन्वय से स्वत समाधान मिल जाता है।

दीपक, जिसमे सामान्यत अनित्यता प्रतिभासित होती है, नित्य भी है। वह पर्याय की दृष्टि से अनित्य है, पर द्रव्य की दृष्टि से नित्य भी है। क्योकि उसमे कार्यशील पुद्गल परमाणु सपूर्णत नष्ट नही होते। दीपक मे तेल और वाती जलते हैं, वे धूम तथा गैस मे परिणत हो जाते हैं, अत उनका स्वरूप-परिवर्तन अवश्य होता है, पर विलयन नही।

आकाश, जो साधारणतया नित्य प्रतीत होता है, वह भी कथचित् अनित्य भी है। उन्मुक्त आकाश जव घेरे मे वन्द हो जाता है तो उसकी अवस्थिति मे परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन ही अनित्यता का ससूचक है। यह निश्चित है कि स्थायित्व के विना परिवर्तन आधारशून्य है और परिवर्तन के विना स्थायित्व मूल्यहीन। कोई भी पदार्थ स्थायित्व और परिवर्तन की रेखा का अतिक्रमण नही कर सकता। आम को निचोडकर रस वना लिया गया। हमारी आखो के सामने अव वह आम का फल नही है। रस, जो पहले दृष्टिगोचर नही था, हमारे सामने है, पर उसमें आम्रत्व वही है। उसे हम नारगी का रस नही कहेंगे।

जहा तक चिंतन और मान्यता का प्रश्न है, यह अनेकान्त दृष्टि हमारा पथ प्रशस्त कर देती है। लेकिन उलझन यहा होती है कि पदार्थ अनन्त हैं और उन्हे जानने के लिए दृष्टिया भी अनन्त हैं। पर अभिव्यक्ति का साधन तो एक भाषा ही है। वह भी इतनी लचीली और दुर्वल कि उसके द्वारा हम एक क्षण मे वस्तु के एक धर्म का ही प्रतिपादन कर सकते हैं। इसका अर्थ होता है—एक वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए

अनन्त शब्द चाहिए, और वैसे अनन्त-अनन्त पदार्थों के लिए अनन्त-अनन्त शब्द चाहिए। उनके लिए हमारा जीवन भी अनन्त चाहिए, पर यह कदापि सभव नही। अत हम इस निष्कर्ष तक पहुचते हैं कि भाषा के सहारे हम न तो वस्तु का सम्पूर्ण परिज्ञान ही कर सकते हैं और न ही अभिव्यक्ति। लेकिन जैन तीर्थंकरो ने भाषा के भण्डार को एक ऐसा रत्न प्रदान किया, जिसके प्रभा-मडल से समूचा भाषा-भण्डार जगमगा उठा। वह शब्द-रत्न है 'स्यात्'। यह इतना सक्षम है कि जिस वस्तु के साथ इसे जोड दिया जाए, उस वस्तु के समग्र रूप को अभिव्यक्त करने का अपना दायित्व वह बहुत ही जागरूकता से निभाता है। यह भाषा-जगत् का प्राण है। इसके अभाव मे भाषा अपने दायित्व का निर्वाह कर ही नही पाती। यह अखण्ड सत्य के प्रतिपादन का माध्यम है। यह एक ऐसा दर्पण है, जिसमे वस्तु के सभी रूप एक साथ प्रतिबिम्बित हो सकते हैं। यह वस्तु के किसी एक धर्म का मुख्यतया प्रतिपादन करता हुआ भी उसके शेष अनन्त धर्मों को आखो से ओझल नही करता।

आचार्यश्री तुलसी ने श्री भिक्षु न्यायकर्णिका मे स्याद्वाद की सरल और सुगम परिभाषा देते हुए लिखा है—

'अर्पणानर्पणाभ्यामनेकान्तात्मकार्थप्रतिपादनपद्धति स्याद्वाद।'

—अनेक-धर्मात्मक वस्तु का, एक समय मे, एक धर्म की प्रधानता—विवक्षा और शेष धर्मों की अप्रधानता—अविवक्षा से प्रतिपादन करने की पद्धति अनेकान्तवाद है। 'स्यात्' शब्द के प्रयोग से हम इस प्रयत्न मे सफल हो सकते हैं, अत इसे स्याद्वाद भी कहते हैं।

स्यात् का अर्थ सशय या सभव नही। सशय अनिर्णायिकता की स्थिति मे होता है। वह अज्ञान है। उसकी भाषा बनती है—'यह अच्छा है या बुरा, कुछ नही कह सकते।' इसके विपरीत स्याद्वाद निर्णायक ज्ञान है। उसकी भाषा है—यह अमुक दृष्टि से अच्छा ही है और अमुक दृष्टि से बुरा ही है। वस्तु सत् भी है और असत् भी है। अर्थात् वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से सत् है और पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से असत् है। एक फूल है। उसमे 'अस्ति' धर्म जितना सावकाश है, उतना ही नास्ति धर्म भी है। इसलिए प्रत्यक्ष दीखने वाले

फूल के विषय मे भी हम निश्चित कह सकते हैं—यह फूल है भी और नही भी। सम्भवत एक बार यह हमे अटपटा-सा लगे, पर तभी तक जब तक कि हम उसे विविध अपेक्षाओ के परिप्रेक्ष्य मे नहीं समझ लेते।

दृष्टिया	है	नहीं
द्रव्य-दृष्टि	यह गुलाब का फूल है	कमल का फूल नही है
क्षेत्र-दृष्टि	यह जयपुर का है	उदयपुर का नही है
काल-दृष्टि	यह वसन्त ऋतु का है	ग्रीष्म का नही है
भाव-दृष्टि	यह विकसित है	अविकसित नही है

इस प्रकार एक ही वस्तु मे दार्शनिक दृष्टि से नित्य-अनित्य आदि तथा व्यावहारिक दृष्टि से छोटा-वडा, दूर-समीप, अच्छा-वुरा, खट्टा-मीठा, शीतल-उष्ण आदि अनन्त धर्मों की अवस्थिति निर्बाध है। यह स्यात् शब्द परस्पर-विरुद्ध धर्मों का प्रतिपादन नही करता, अपितु हमे जो विरोध लगता है, उसका यह अपेक्षा-भेद से निरसन करता है।

प्रत्येक पदार्थ विविध-रूप है। उसे एक-रूप मानना चिंतन की जडता का प्रतीक है। भोजन की उपयोगिता को कौन नकार सकता है? वह भूखे व्यक्ति के लिए परम रसायन, औषध तथा अमृत है। लेकिन वही अजीर्णग्रस्त व्यक्ति के लिए क्या ज़हर नही वन जाएगा ?

व्यायाम स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है, परन्तु किन्ही परिस्थितियो मे वह महान् घातक भी हो सकता है।

दो व्यक्तियो ने एक ही घडे का पानी पिया। एक ने शीतल पानी पीकर तृप्ति का अनुभव किया। एक की प्यास नही वुझी। उसे वह गर्म लगा। दोनो अपनी-अपनी वात सिद्ध करने के लिए झगडने लगे। रहस्य खुलने पर विवाद स्वत शान्त हो गया। वह यह था कि पहले नल का गर्म पानी पीने वाले को कोरे घट का पानी अतीव शीतल लगा और वर्फ खाकर आने वाले को वही जल गर्म लगा। एक की प्यास वुझ गयी, दूसरे की नही वुझी।

एक फूल है। एक व्यक्ति उसके रूप पर मुग्ध है। दूसरा मादकता भरी महक से उन्मत्त। उसकी मधुर मुसकान से प्रेरणा ले चिन्ताओ मे डूवा किसी का मन पुलक उठता है। उसे देख किसी की वासना उभर

जाती है तो कोई जागतिक तत्त्वो की अनित्यता का दर्शन कर परम सवेग को प्राप्त करता है। यदि वस्तु एक-धर्मात्मक ही होती तो भिन्न परिस्थिति मे उसमे भिन्न धर्म का उदय कैसे होता ?

मैं देखती हू, प्रत्येक घर मे विजली के तार हैं, उनसे पखा चलता है। वल्व जलता है। स्टोव पर भोजन पकता है। रेडियो वजता है। टेलीफोन पर वातचीत होती है। एयर-कूलर और एयर-कडीशनर मनुष्य को भरसक सुविधा प्रदान करते हैं। और भी न जाने कितने रूपो मे मानव विद्युत् का उपयोग करता है। सभी तारो में एक ही विद्युत् प्रवाहमान है। फिर भी पखे मे उसका चालक गुण, वल्व मे प्रकाशक गुण, स्टोव मे दाहक गुण, रेडियो तथा टेलीफोन मे उसका ध्वनि-प्रसारक और ग्राहक गुण क्रियाशील है। अत यह सुस्पष्ट है कि अग्नि केवल दहन-धर्मा ही नही, और भी अनेक-धर्मात्मक है। यहा यह भी ज्ञातव्य है कि उसके अन्यान्य गुण विभिन्न निमित्त पाकर ही उभरते हैं। वल्व मे उसका प्रकाशक गुण ही कार्य करता है, न कि दाहक गुण। पर इतने मात्र से हम उसके दाहक गुण को नकार नही सकते। हा, प्रकाशक गुण के उभरते ही शेष धर्म अप्रधान वनकर उसका अनुगमन करने लग जाते हैं। गति के लिए यह अनिवार्य भी है। एक पैर जब आगे वढता है तो दूसरे को अपने आप पीछे हट जाना चाहिए। यह गति मे वाधा नहीं, प्रेरणा है। यदि एक पैर पीछे हटने से इनकार कर दे तो वडी मुश्किल हो जाए।

इस प्रकार अनेकान्त और स्याद्वाद के माध्यम से हम पदार्थ का सम्यक्-वोध और सम्यक्-प्रतिपादन कर सकते हैं। इसकी उपादेयता केवल वस्तु-जगत् तक ही परिसीमित नहीं है। हमारे जीवन का प्रत्येक पहलू इससे सस्पृष्ट तथा उजागर है।

हमारा जीवन एकता और विविधता का विचित्र योग है। मनुष्य-मनुष्य एक है, यह समानता की अनुभूति समूची मानव जाति को एकत्व के सूत्र मे पिरोए रखती है। सवकी रुचिया, अपेक्षाए, जीने की पद्धतिया और अपेक्षा-पूर्ति के स्रोत भिन्न हैं, अत वह विविध रूपो मे विभक्त हो जाती है।

व्यक्ति का जिसके साथ अधिक लगाव या ममत्व होता है, उसे वह

महत्त्व देता है। फलत विभिन्न वर्ग, जाति, भाषा, सम्प्रदाय आदि की रेखाए उभर आती है। महत्त्व देना बुरा नही, यदि उससे दूसरो का महत्त्व और हित खण्डित न हो। समस्या यही प्रसूत होती है कि व्यक्ति 'स्व' को जितना महत्त्व देता है, 'पर' को उतना ही नकारने लग जाता है। यही से मानवीय एकता को खतरा पैदा हो जाता है। सघर्ष के ज्वालामुखी फूट पडते हैं।

एक परिवार मे अनेक सदस्य होते हैं। उन सबके हित, स्वार्थ, रूचिया और योग्यताए भिन्न होती है। इस स्थिति मे किसी एक के हितो, योग्यताओ आदि को महत्त्व व सम्मान देने पर परस्पर टकराव होता है और अलगाव की दीवारें खिच जाती हैं। धीरे-धीरे वैमनस्य, घृणा और प्रतिहिंसा की भावनाए बलवती होती जाती हैं। सरस पारिवारिक जीवन मे विरसता का विष घुलने लग जाता है। इसके विपरीत यदि प्रत्येक सदस्य अपने हितो और भावनाओ को गौण कर दूसरे की भावनाओ और हितो को प्राथमिकता दे तो स्वय का हित विघटित कभी नही होता, वह अधिक सधता है और पारिवारिक जीवन मधुमय बन जाता है। निरपेक्ष व्यवहार जहा एकत्व मे बिखराव पैदा करता है, वहा सापेक्ष व्यवहार बिखरी हुई मणियो को सुन्दर माला का आकार प्रदान करता है। सापेक्ष दृष्टिकोण शान्त, सरस और सुखी जीवन का मूल मन्त्र है। दृष्टि की एकागिता आग्रह को जन्म देती है। आग्रह हिंसा है, जिसकी भूमिका मे वैमनस्य और दुर्भावनाओ के बीज अकुरित होते हैं, जो एक दिन महान विप-वृक्ष के रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं।

अस्तु, वर्तमान के सन्दर्भ मे भी स्याद्वाद की अर्हता निर्विवाद है। इसमे वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभी समस्याओ का सुन्दर समाधान सन्निहित है।

शोपणहीन समाज की सरचना, नि शस्त्रीकरण, विश्वमैत्री, सह-अस्तित्व आदि दृष्टियो और सिद्धातो का पल्लवन और उन्नयन स्याद्वाद के प्रतिष्ठान से ही सम्भव है।

जैन-दर्शन की यह सुलझी हुई मान्यता समूचे विश्व के लिए एक वैज्ञानिक देन है।

६

गांधी का सत्याग्रह : महावीर का अनाग्रह

कहते हैं, एक बार गर्मी की दोपहरी मे चन्दन और कीचड के बीच झगडा हो गया। चन्दन का कहना था—दुनिया मे कोई भी पदार्थ शीतलता मे मेरी बराबरी नही कर सकता। तन झुलसाने वाले, आग उगलते मौसम मे, मैं कितनो को शान्ति देता हू। दाह-ज्वर की पीडा को मैं क्षणो मे भगा देता हू। मेरे सेवन से मनुष्य का रोआ-रोआ शीतलता से भर जाता है। मुहमागा मूल्य देकर भी हर व्यक्ति अपने घर मे मुझे सजोए रखता है। मेरी मोहकता भरी महक अनायास ही न जाने कितनो को अपनी ओर खीच लेती है।

कीचड ने दृढता से इसका प्रतिवाद किया और अपनी प्रशसा के पुल बाधने लगा। बात तन गयी। दोनो मे से कोई भी झुकने को तैयार नही था। आखिर दोनो ने किसी निर्णायक के सामने बहस करना उचित समझा। इस कार्य के लिए चुना गया—कीचड मे टर्र-टर्र करता हुआ एक मेढक।

दोनो पक्षो की समग्र युक्तियो को सुन लेने के पश्चात मेढक ने टर्राते हुए अपना निर्णय सुनाया—"चन्दन चाहे अपनी कितनी ही प्रशसा करे, पर वह कभी भी कीचड की बराबरी नही कर सकता। दुनिया मे सबसे शीतल पदार्थ कीचड ही है।" आखिर मेढक से अन्य निर्णय की आशा भी क्या की जा सकती थी! रात-दिन कीचड मे रहने वाला मेढक चन्दन का मूल्य भी क्या समझे!

उपरोक्त घटना काल्पनिक है, नितान्त काल्पनिक। किन्तु यह एक बहुत बडे यथार्थ का उद्‌घाटन कर रही है। मेढक ने ऐसा हास्यास्पद निर्णय दिया होगा या नही, लेकिन मानव-समाज मे ऐसी घटनाए आये दिन घटती ही रहती हैं, क्योकि वह अपने ही परिवेश मे सोचता है। अपने ही आईने मे देखता है। हर तत्त्व को अपनी बुद्धि से ही परखता है। उसके अपने आदर्श हैं, अपने ही सिद्धान्त, अपने ही मूल्य होते हैं, अपने ही प्रतिमान। अपनी ही कसौटी होती है, अपनी ही छेनी। अपने ही पैमाने होते हैं, अपने ही बटखरे। और इन सब पर मुहर होती है सत्य की, सत्याग्रह की।

किसी व्यक्ति से पूछा गया—"उत्तम जल कौन-सा है ? सर्वश्रेष्ठ फल कौन-सा है ? आदर्श महिला कौन है और आदर्श पुरुष कौन ?"

उसने तपाक से उत्तर दिया—"पानी अच्छा होता है कुए का, फल अच्छा होता है जामुन का, आदर्श महिला है मेरी पत्नी और आदर्श पुरुष हू मैं।" यह उसने इसलिए कहा होगा कि उसके खेत मे, बाग मे और घर मे कुए खुदे हुए थे, घर में ही जामुन का पेड था, जिसके फल पूरे परिवार को प्रिय थे, अपनी पत्नी को और अपने आपको वह अधिक 'अक्लमद' मानता ही था।

ये ही प्रश्न जब एक निष्पक्ष व्यक्ति के सामने दुहराए गए तो उत्तर मिला—"पानी वर्षा का अच्छा होता है, फलो मे आम सर्वश्रेष्ठ है, महिलाओ मे आदर्श महिला है महासती सीता और पुरुषो मे श्रेष्ठ पुरुष हैं मर्यादा-पुरुषोत्तम राम।"

यह चिन्तन वही दे सकता है जिसका मन किसी पूर्वाग्रह मे प्रतिबद्ध न हो, जो अनाग्रही हो और सत्यान्वेषी हो।

सोलहवी शती के महान् विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी ने इसी तथ्य को सुस्पष्ट करते हुए लिखा है—

"मनोवत्सो युक्तिगवीं, मध्यस्थस्यानुधावति ।
तामाकर्षति पुच्छेन, तुच्छाग्रह मन कपि ॥"

निष्पक्ष व्यक्ति का मन एक बछडे के समान होता है, जो युक्ति-रूप गौ के पीछे-पीछे चलता है। आग्रही मानस बन्दर के समान होता है, जो

गो की पूछ पकडकर अपनी ओर खीचता रहता है।

यह स्पष्ट है कि अनाग्रही व्यक्ति का चिन्तन स्वस्थ होता है। उसके मन मे सत्य के प्रति आदर और विनम्रता के भाव होते हैं। उसकी दृष्टि सत्याग्रही होती है, अत जहा कही भी उसे सत्य उपलब्ध हो, वह विनम्रता से उसे स्वीकारता चला जाता है।

इसके विपरीत आग्रही व्यक्ति भी सत्य को टानता है, उसकी पकड वहुत गहरी होती है, लेकिन इसलिए नही कि उसके मन मे सत्य के प्रति कोई वहुत वडा स्थान या आदर के भाव हैं, वल्कि इसलिए कि तव वह उसके अह के साथ जुड जाता है। उसे ढीला छोडने से अह के खडित होने की सम्भावना प्रवल हो जाती है। अत स्वीकृत पक्ष को छोड देने की क्षमता वह जुटा नही पाता। उसे प्रतिष्ठा और सम्मान के हनन की आशका घेरे रहती है।

इस सन्दर्भ मे जव मैं 'सत्याग्रह' के सम्वन्ध मे सोचती हू तो अपने आपको असमजस मे पाती हू। सत्य—फिर भी आग्रह ? अथवा सत्य के लिए भी आग्रह ?

हमारा सत्य से प्रेम हो सकता है, लगाव हो सकता है, उसके प्रति झुकाव हो सकता है, सत्य की तीव्र अभीप्सा हो सकती है, लेकिन सत्य के प्रति आग्रही वनकर क्या हम सत्य के साथ अन्याय नही करते ? उस पर आवरण नही डालते ? उसे धुधला नही वनाते ?

वैसे तो विश्व-रगमच पर वैयक्तिक, सामाजिक एव राजनैतिक स्तर पर सत्याग्रह के विभिन्न प्रयोग होते रहे हैं, लेकिन गाधीजी ने विदेशी सत्ता के विरुद्ध शक्तिशाली अहिंसात्मक प्रतिकार के रूप मे जिस सत्याग्रह का व्यक्तिगत एव सामूहिक प्रयोग किया, उसने विदेशी शासन की मजवूत जडो को उखाडकर फेंक दिया। तव से 'सत्याग्रह' ने एक राजनैतिक आन्दोलन का रूप ले लिया।

सत्याग्रह शव्द की भावनात्मक समीक्षा करने से विदित होता है कि गाधीजी ने अपनी विशुद्ध नीति से अहिंसा और अध्यात्म को नये परिधान मे राजनैतिक प्रागण मे उतारा था। वह एक युगीन अपेक्षा थी जिसकी सम्पूर्ति उन्होंने की।

लेकिन सत्याग्रह की प्रस्तुति के वर्तमान तरीके—अनशन, हडताल, घेराव, वन्द आदि अहिंसा और गाधीजी के उद्देश्यो एव भावनाओ के कितने निकट हैं, कहा नही जा सकता। और सत्याग्रह की छाया मे जो कुछ पल रहा है, उसके आधार पर यह भी नही कहा जा सकता कि वह सत्याग्रह है या दुराग्रह ? निश्चित ही इन प्रक्रियाओ से तनावपूर्ण वातावरण का निर्माण होता है, उत्तेजना वढती है और हिंसा भडकती है। हिंसा सत्य की हत्या करने मे भी नही सकुचाती। भगवान् महावीर ने इन सव समस्याओ के समाधान हेतु 'अनेकान्त' का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, जिसका फलित है अनाग्रह। उन्होंने कहा—

'पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि'

—पुरुष ! तू सत्य का ही अनुशीलन कर। सत्य का अनुशीलन व्यक्ति को मिथ्याभिनिवेश मे वचाता है। जहा अभिनिवेश होता है, वहा अनुशीलन नही होता और अनुशीलन के विना सत्य की सम्यक् उपलब्धि नही हो सकती।

वस्तुत अपूर्ण व्यक्ति जिसे सत्य मानता है, वह विविध अपेक्षाओं से जुडकर ही सत्य होता है, अपेक्षाओं से निरपेक्ष होकर नही। सत्य असीम होता है। व्यक्ति की बुद्धि सीमित होती है और ज्ञान परिमित। इन सीमित साधनो से सत्य के कुछेक पहलू ही उजागर हो सकते हैं, सम्पूर्ण सत्य नही। अपूर्ण को पूर्ण मानने की मनोवृत्ति दुराग्रह को जन्म देती है। इससे बुद्धि भ्रान्त होती है। मन तनावग्रस्त होता है। हृदय टूट जाता है। जीवन की समरसता और सरसता समाप्त हो जाती है। इस प्रक्रिया से सत्य को प्राप्त करना तो दूर, अपितु वह और अधिक दूर होता चला जाता है। इसलिए वह सत्याग्रह भी दुराग्रह वन जाता है। ऐसी स्थिति में सत्याग्रह की अपेक्षा महावीर का 'अनाग्रह-सिद्धान्त' जागतिक समस्याओ के परिप्रेक्ष्य मे अधिक सक्षम सिद्ध हो सकता है। अनाग्रही व्यक्ति विना किसी व्यामोह और विद्रोह के तटस्थ-भाव से वस्तु-सत्य का आकलन करता है। यह सत्य-प्राप्ति का ऋजु दृष्टिकोण है।

महावीर ने व्यक्ति की आग्रही वृत्ति पर चोट करते हुए कहा—

'उवेहमाणो, अणुवेहमाण वूया उवेहाहि समियाए'[1]

मध्यस्थ भाव रखने वाला व्यक्ति, मध्यस्थ भाव न रखने वाले से कहे—"तुम सम्यक् सत्य के लिए मध्यस्थ भाव का अवलम्बन करो। क्योकि—"इच्चेव तथ्य सधी झोसितो भवति[२]।" पूर्वोक्त पद्धति से हर प्रकार की समस्या को सुलझाया जा सकता है।

अस्तु, महावीर की दृष्टि मे सत्य के उद्घाटन और अनुगमन का एकमात्र उपाय है अनाग्रह-वृत्ति का विकास। वैचारिक प्रतिवद्धता जहा हमे सत्य से बहुत दूर धकेल देती है, वहा अनाग्रह से किसी भी समस्या का समाधान स्वत नितर आता है। भले ही वह समस्या वैयक्तिक हो या पारिवारिक, राष्ट्रीय हो या अन्तर्राष्ट्रीय, राजनैतिक हो या सामाजिक, धार्मिक हो या साम्प्रदायिक। इससे मानवीय शक्ति का बहुत बडा भाग व्यर्थ की विध्वसात्मक प्रवृत्तियो मे क्षीण न होकर नव-सृजन की दिशा मे प्रवहमान हो सकता है।

सन्दर्भ

१ आयारो ५।५।९७।
२ आयारो ५।५।९८।

१०

अपनी छाया : अपना दर्पण

अणुव्रत-अनुशास्ता आचार्यश्री तुलसी जब राजस्थान के सीमान्त प्रदेश श्रीगंगानगर की पदयात्रा पर थे तो उन्होंने मार्ग में देखा—सीमान्त प्रदेश पर कुछ हिन्दुस्तानी जवान दूरवीक्षण यन्त्र में आंखें गडाए एक ऊंची-सी दीवार पर खड़े हैं, और उधर पाकिस्तान की सीमा पर भी जवान वैसे ही खड़े हैं। वे न हिलते हैं और न डुलते हैं। मात्र एक-दूसरे की सीमा पर दृष्टि केन्द्रित किए खड़े हैं—एक सधे हुए योगी की तरह, निष्प्रकम्प।

आचार्यश्री की वेधक दृष्टि उन पर टिकी और उन्होंने अधिकारियों से पूछा—"ये जवान इस प्रकार निश्चल क्यों खड़े हैं?"

"आचार्यश्री! ये हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सीमा-सुरक्षा दल के जवान हैं। शत्रु की सीमा में होने वाली गतिविधियों और हलचलों को ये पूरी सतर्कता से देख रहे हैं, यह इनकी ड्यूटी है।" अधिकारियों ने बताया।

तथ्य की गहराई में जाते हुए आचार्यश्री ने कहा—"यही तो अध्यात्म-नीति और राजनीति का अन्तर है। राजनीति जहां बाहरी घटनाओं के प्रति सतर्कता बरतने पर बल देती है, वहां अध्यात्म-नीति भीतर की गतिविधियों और हलचलों के प्रति सावधान रहने की प्रेरणा देती है।"

इस छोटे-से मृदु संस्मरण में एक महान् जीवन-दर्शन सन्निहित है। वस्तुतः बाहर के शत्रु हमारे बाहरी वातावरण को प्रभावित कर सकते हैं न कि अन्तर्-जगत को। अन्तर्-जगत को यदि कहीं से खतरा हो सकता है

तो वह भीतर से ही हो सकता है। अत अपेक्षा है हम भीतर मे होने वाली गतिविधियो और हलचलो के प्रति पूर्ण जागरूक रहे।

विकास के चरम बिन्दु पर स्थित मनुष्य जाति आज इतना सतही और बहिर्मुखी जीवन जी रही है कि उसकी समग्र चेतना का बहाव उस बजर रेगिस्तान की ओर हो रहा है, जहा मानवीय हितो का अकुरण और पल्लवन प्रश्नचिह्न बनकर ही रह जाता है।

उसके बिखरे हुए ऊर्जाकण जन्म देते हैं—ईर्ष्या, द्वेष, वैमनस्य, असन्तोष, असहिष्णुता और स्वार्थपरता के विपाक्त अकुरो को। उनके दुष्प्रभाव से बचने का एकमात्र उपाय है चेतना का केन्द्रीकरण। उसका प्रथम सोपान है—अन्तर्दर्शन।

वस्तुत चेतना का केन्द्रीकरण और अन्तर्दर्शन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। बिखरी हुई चेतना स्वप्रतिष्ठित नही हो सकती और स्वप्रतिष्ठा के बिना उसके बिखराव को रोका भी नही जा सकता। अत अपेक्षा है कि हम अपनी समग्र वृत्तियो और प्रवृत्तियो को स्वय में समेटकर भीतर की गहराई मे उतरें। आत्म-केन्द्रित बनें। 'स्वदर्शन के द्वार' उद्घाटित करें।

बहुत ही लम्बी और कठिनाइयो से भरी यात्रा है स्वदर्शन की। उसका आरम्भ होता है—स्वय के विकारो, वृत्तियो और प्रवृत्तियो के दर्शन से।

इस स्वदर्शन की प्रक्रिया को हम सरलता से समझ सकते हैं—अग्रेजी शब्द watch के सर्वांगीण विश्लेषण से। 'वाच' का पूरा अर्थ है बारीकी से देखना—निरीक्षण करना। पर किसका निरीक्षण करें—यह दिशा-बोध मिलता है इसी शब्द के एक-एक अक्षर से, जैसे कि—

Watch your words
Watch your actions
Watch your thoughts
Watch your character
Watch your habits

—अपने शब्दो को देखो। अपने कार्यों को देखो। अपने विचारो को देखो। अपने चरित्र को देखो। अपनी आदतो को देखो।

वस्तुत शब्द, प्रवृत्तिया, चिन्तन, चरित्र और आदतें—इन्ही से

व्यक्ति की पहचान होती है और व्यक्तित्व का मूल्याकन। व्यक्तित्व-निर्माण के मौलिक आधार भी ये ही विन्दु वनते हैं।

विवेकपूर्ण शव्द प्रयोग, शालीन प्रवृत्तिया, ऊर्ध्वमुखी चिन्तन, सुलझे हुए विचार, पवित्र आचार, प्रेम-पूरित व्यवहार तथा अच्छी आदतें—एक शक्ति-सम्पन्न और तेजस्वी व्यक्तित्व को जन्म देती है। इससे व्यक्ति स्वयं तो समाज मे सम्मानित व प्रतिष्ठित होता ही है, परिपार्श्व मे भी एक स्वस्थ वातावरण का निर्माण कर सकता है। उसके विपरीत उक्त दुर्वलताओ से आक्रान्त व्यक्ति स्वय अशान्त रहता है और दूसरो को अशान्ति ही वाटता है। वह स्वय दु खी रहता है और चारो तरफ दु ख ही दु ख के वीज विखेरता है। फलत ममग्र मानवीय चेतना अनेक-अनेक जीवन घाती समस्याओ से घिर जाती है। इमका मूल कारण है म्वय के भीतर झाकने की मनोवृत्ति का अभाव। इसी से व्यक्ति 'आरोपण' की वृत्ति का शिकार हो रहा है। अपनी दुर्वलताओ को औरो पर आरोपित करता रहता है, लेकिन यह वृत्ति उसके सरम, शान्त और सुखी जीवन के मधुमय क्षणो मे विप घोल देती है। इस स्थिति मे उसे सर्वत्र एक रिक्तता, शुष्कता, असुरक्षा और परायेपन की अनुभूति होने लगती है। अपनो पर से भी उसका विश्वास उठ जाता है। अत वह हर व्यक्ति की हर प्रवृत्ति को सन्देह की आखो से देखने लगता है। यही से एक अन्तहीन शिकायत की वृत्ति का जन्म होता है।

मा-वेटी, माम-वहू, वाप-वेटा, भाई-भाई, मित्र-मित्र, छात्र-अध्यापक, मालिक-मजदूर, अधिकारी-कर्मचारी, जनता-सरकार—सव एक-दूमरे के प्रति सशय और शिकायत के भावो से भरे रहते है। इमसे आत्मीय सम्वन्धो मे गहरी दरार पड जाती है। प्रेम और स्नेह का स्रोत सूख जाता है। जीवन की समरसता लुप्त हो जाती है और समग्रता खण्ड-खण्ड। परिणाम-स्वरूप मनुष्य कटी-फटी और पेवन्द लगी जिन्दगी जीने लगता है।

इन सव समस्याओ का स्थायी समाधान है—अन्तर्मुखी दृष्टिकोण। इससे स्वय की दुर्वलताओ की जडे उखडती है, वृत्तिया परिमार्जित होती हैं और जीवन मे मानवीय मूल्य प्रतिष्ठित होते हैं।

यद्यपि आज मनुष्य को समाचार-पत्र, रेडियो, टेलीविजन आदि ऐसे-

ऐसे साधन उपलब्ध हैं, जिनके माध्यम से उसका अधिकाश समय विश्व-दर्शन मे ही वीत जाता है और रहा-सहा समय चला जाता है आलोचना, प्रत्यालोचना और व्यर्थ की वहसवाजी मे। उसे भीतर झाकने का अवसर ही नही मिलता।

लेकिन अध्यात्मयोगी महावीर ने कहा—मनुष्य को चाहिए कि वह विश्व-दर्शन के व्यस्त क्षणो मे भी कुछ समय स्वय को देखने के लिए निकाले।

उन्होने वताया—

"जो पुव्वरत्तावरत्तकाले सपिक्खई अप्पगमप्पएण।
किं मे कड किं च मे किच्च सेस, किं सक्कणिज्ज न समायरामि।।"

—"पूर्व रात्रि मे या पश्चिम रात्रि मे, अथवा रात को सोते समय और सुवह उठते समय, वह कुछ क्षण के लिए आत्मदर्शन करे। स्वय के द्वारा स्वय को देखे और सोचे कि आज तक मैंने क्या-क्या कार्य किए हैं? जो किए हैं वे कार्य कैसे हैं? मेरे कार्य से किसी दूसरे के स्वार्थों और हितो का विघटन तो नही हो रहा है? मेरे लिए क्या करणीय है? क्या ऐसा भी कोई कार्य है जिसे मैं कर सकता हू पर कर नही रहा हू?

यह चिन्तन एक ऐसा दर्पण है जो हर व्यक्ति का एक अपना दर्पण है और वह इतना स्वस्थ है कि उसमे व्यक्ति अपनी छाया का यथार्थ प्रतिविम्व देख सकता है।

यह एक मानवीय दुर्वलता है कि व्यक्ति या तो अपने चिन्तन-दर्पण मे दूसरो के विम्व देखने मे व्यस्त रहता है या दूसरो के भाव-दर्पण मे स्वय की छवि देखने की कोशिश करता है। इन दोनो ही उपक्रमो से यथार्थ की अवगति नही हो सकती। यथार्थता के वोध के लिए अपेक्षित है—वह अपने ही दर्पण मे अपनी छाया को देखे।

यह स्वदर्शन की यात्रा श्वास-दर्शन और शरीरतन्त्र मे अभिव्यक्त होने वाली स्थूल या सूक्ष्म सवेदनाओ के अवलोकन से और भी सुगम हो जाती है। इस प्रक्रिया को वौद्ध-परम्परा मे आनापानसती और विपश्यना कहा जाता है। जैन आगम ग्रन्थो मे भी अनुप्रेक्षा के रूप मे इसके वीज यत्र-तत्र विकीर्ण मिलते हैं।

इस क्रम से पुरातन सस्कार क्षीण होते हैं। राग-द्वेष की ग्रन्थिया शिथिल होती हैं। वृत्तिया शान्त होती हैं। बुरी आदतो से छुटकारा मिलता है। जीवन मे रूपान्तरण घटित होता है। भीतर की सोयी हुई शक्तिया जाग उठती हैं, जिन्दगी की दुर्गम घाटियो से आनन्द का स्रोत फूट पडता है। बाहर-भीतर तैरने लगती हैं—शक्ति, स्फूर्ति और शान्ति की नन्ही-नन्ही नौकाए, जिन पर आरूढ होकर व्यक्ति उफनती हुई जीवन-सरिता के उस पार पहुच जाता है, जहा न समस्याओ की घटाए हैं, न शिकायतो की बौछारें। न आलोचना की बिजलिया हैं, न सघर्षो की कडकडाहट। न व्यथाओ की काली कजरारी रात है और न आतक का गहरा तम।

वहा रहता है सदा उजला प्रभात, कल-कल बहता शान्ति का शीतल शुभ्र प्रपात, जिसमे बह जाती है मन की व्यथा और हृदय का समग्र सन्ताप।

११

मन का अधेरा . रोशनी का पहरा

प्राय देखा जाता है, हर व्यक्ति अपने आवास के बाहरी भाग को साफ-सुथरा और सजा सवरा रखने के लिए प्रयत्नशील रहता है—भीतर चाहे कितना ही कूडा-करकट भरा रहे, दुर्गन्ध उठती रहे और टूटी-फूटी वस्तुए इधर-उधर बिखरी रहे। अधिकाश यह भी होता है जो वस्तुए टूट-फूट जाती हैं या एकदम बेकार हो जाती हैं, उन्हें भी फेंक देने की अपेक्षा व्यक्ति भीतर ठूसते रहते हैं, घर के किसी अधेरे कक्ष मे जमा करते रहते हैं और मात्र यही सतर्कता बरती जाती है कि बाहरी लोगो को हमारी गरीबी और फूहडपन का परिचय न मिले। उनकी दृष्टि मे हमारी सभ्यता और शालीनता बरकरार बनी रहे।

जरा गहराई मे उतरने से पता चलता है कि मनुष्य की वृत्ति अन्तर्जगत् मे भी उतनी ही प्रखरता लिये हुए है।

मनुष्य के भीतर दैवी और आसुरी, दोनो ही वृत्तियो के बीज विद्यमान रहते हैं। दोनो मे गहरा टकराव रहता है। दोनो ही एक-दूसरी को उखाडना और पछाडना चाहती है। जब दैवी वृत्तिया विजयी होती हैं तो मनुष्य का दिव्यत्व जाग उठता है। जब आसुरी वृत्तिया बल पकड लेती हैं तो वह राक्षस से भी अधिक भयावह हो जाता है। तब वह या तो पशुता की ओर जाता है या पैशाचिकता की ओर। कितनी मार्मिक हैं ये पक्तिया—

आदमी अब जानवर की सरल परिभाषा बना है,
भस्म करने विश्व को वह आज दुर्वासा बना है।

क्या जरूरत राक्षसो की चूसने इन्सान को, जब
आदमी ही आदमी के खून का प्यासा बना है।

क्षमा, सहिष्णुता, ऋजुता, मृदुता, मधुरता—ये दैवी वृत्तिया हैं और उत्तेजना, क्षुद्रता, कुटिलता, कलुषता आदि आसुरी वृत्तिया।

लेकिन मनुष्य छिपाने मे बहुत दक्ष होता है। वह न जाने कितने-कितने मुखौटे रखता है, कितने-कितने अभिनय करता है और कितनी-कितनी चालें चलता है। वह भीतर आग उगलता है और ऊपर से मीठी मुसकान बिखेरता है। भीतर किसी को धोखा देने तथा अपमानित करने के लिए षड्यन्त्र रचता है और बाहर से मैत्री का हाथ बढाता है। भीतर-प्रतिशोध की ज्वालाए भभकती है और ऊपर के मधुर व्यवहार दूसरो को पानी-पानी कर देते हैं।

यह चातुरी भले ही उसे समाज मे प्रतिष्ठा प्रदान कर दे, भले ही पूरा परिवेश उससे प्रभावित हो जाए पर उसके अन्तर्मन मे निरतर एक अज्ञात-सी पीडा और क्षुब्धता बनी रहती है।

वे दबी हुई वृत्तिया और आकाक्षाए जीवन के मधुमय क्षणो मे जहर घोलती रहती हैं। काटे की तरह क्षण-क्षण खटकती रहती हैं। जैन आगम-ग्रन्थो मे इस वृत्ति को शल्य कहा गया है, जिसको बाहर निकाले बिना व्यक्ति कभी भी स्वस्थता की अनुभूति नही कर सकता।

मानस-शास्त्रियो ने इस तथ्य को एक बहुत ही सुन्दर और सरल रूपक के माध्यम से समझाया है।

कल्पना करें, किसी अमीर परिवार का एक बहुत ही सुन्दर भवन है। उसका एक कक्ष अत्यन्त करीने से सजा है। हर प्रकार की वैज्ञानिक सुख-सुविधाए जुटाई गयी हैं। बिजली की जगमगाहट, पखो की घरघराहट, रेडियो और ग्रामोफोन की मधुर स्वर-लहरी, टेलीविजन के नयनाभिराम दृश्य, मोहक कालीनें, मखमली गद्दे, मेज-कुर्सिया, सोफासेट तथा विविध प्रकार के झाड-फानूस इतनी कलात्मकता से सजाए गए है कि कक्ष की भव्यता और निखर गयी है। उसमे रहते है सभ्य और सुशिक्षित व्यक्ति। वे उस विशाल सामग्री का मनचाहा उपयोग करते हैं।

उसी कक्ष के भीतर एक सीलन-भरी कोठरी है, जिसका द्वार उसी

भव्य कक्ष मे खुलता है। न उसमे हवा का प्रवेश है, न धूप का प्रवेश है और न प्रकाश का प्रवेश। रह-रहकर उठती है मन मे घुटन और ऊब पैदा कर देने वाली अजीब-सी बदबू। उसमे रहते हैं कुछ अनपढ, असभ्य आदिवासी मानव !

सुन्दर कक्ष की साज-सज्जा और चमक दमक उनके भोले-भाले मानस को भी अपनी ओर खीच रही है। वे भी ललचाते हैं उस नयी दुनिया से सम्पर्क स्थापित करने के लिए और आनन्द लूटने के लिए। पर विवश हैं, बाहर आ नही सकते। बीच मे पहरेदार बैठा है। उसकी कडी निगरानी है। जब भी वे बाहर आने का प्रयत्न करते हैं, पहरेदार गरजता है, बरसता है, लाठी पीटता है। बेचारे दबे पाव भाग जाते हैं।

जब कभी पहरेदार को झपकी आ जाती है तो वे धीरे से बाहर निकलने की कोशिश करते हैं। कुछ बाहर आकर अपनी हरकतें शुरु कर देते हैं। कोई बिजली का स्विच दबाता है तो कोई पखा स्टार्ट करता है। कोई रेडियो चलाने के लिए अटकलें लगता है तो कोई आराम से गद्दे पर लेट जाता है। लेकिन मन ही मन सब डर रहे हैं—कही पहरेदार जग न जाए। पहरेदार भी आख खुलते ही धमकाता है उन्हे—'खबरदार ! जल्दी घुसो भीतर।' बेचारे हडबडाते हुए घुस जाते हैं उस अधेरी-घुप्प कोठरी मे।

जब तक कुतूहल शान्त न हो जाए, उनका यह क्रम चालू रहता है। ठीक इसी प्रकार मानव-मानस के भी दो स्तर हैं—चेतन मन और अचेतन मन। इन दोनो के बीच में विवेक प्रतिष्ठित रहता है, जो पहरेदार का काम करता है। जब-जब मन मे अच्छी भावनाए, आकाक्षाए एव पवित्र विचार उठते हैं, तो विवेक उन्हें चेतन मन के चित्रपट पर अभिव्यक्त होने का अवसर दे देता है। लेकिन कभी ऐसे विचार या इच्छाए भी मन मे पैदा हो जाती हैं जो व्यक्ति या समाज की दृष्टि मे हीन मानी जाती हैं, जिनकी अभिव्यक्ति से बदनामी होती है, समाज मे व्यक्ति का मूल्य घटता है, व्यक्तित्व मे ठेस पहुचती है या जो कार्य करने मे आलोचना-प्रत्यालोचना का भय रहता है। ऐसे विचारो को, आकाक्षाओ को विवेक तत्काल वही दबा देता है। मन की अधेरी कोठरी मे छिपा लेता है। वे दमित भावनाए जब-तब अवसर पाकर प्रकट होना चाहती हैं पर विवेक उन्हें पुन -पुन लौट

जाने को विवश करता रहता है।

इस क्रम से अतृप्त इच्छाए अन्तर्मन की गहराई मे उतरती जाती हैं। फलत मन मे अनगिन गाठें घुलती जाती है, कुठाए पनपने लगती हैं और व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक एव बौद्धिक विकास अवरुद्ध हो जाता है।

वे दमित भावनाए अपनी अभिव्यक्ति का प्रयास नही त्यागती। समुचित अवकाश न मिलने पर वे दूसरे-दूसरे रूपो मे प्रकट होती है। शारीरिक या मानसिक रोगो के रूप मे उभार लेने लगती हैं।

मनोरोग आधुनिक युग की जटिल पहेली है। पूरा मानव-समाज इससे आक्रान्त है। वह स्नायविक तनाव और चेतना के विखराव से क्षत-विक्षत और जर्जर हो रहा है। फलत नि स्तेज, निर्बल और बीमार पीढी जन्म ले रही है। अपेक्षा है इसके समुचित उपचार की।

सर्वप्रथम अन्तर्मन की गहराई मे जमी हुई वृत्तियो और वासनाओ की परतो को कुरेद-कुरेदकर वाहर निकालना आवश्यक है।

फोडे पर यदि ऊपर-ऊपर मरहम करते रहे और भीतर मवाद भरा रहे तो वह पूरे शरीर के लिए घातक वन जाता है।

पेट के भीतर विकृति भरी रहे और ऊपर से औषध उपचार करते रहे तो क्या स्वास्थ्य की आशा की जा सकती है? इसी प्रकार अपनी असत् प्रवृत्तियो के रेचन, शोधन और परिमार्जन के बिना चैतन्य विकास तथा आन्तरिक ऊर्जाओ के परिस्फुरण की कल्पना भी कल्पनामात्र ही रह जाती है। अन्तर के अन्धकार को मिटाए विना वाहरी रोशनी के सौ-सौ पहरे भी मूल्यहीन हो जाते है।

अन्तर मे छिपी असत् वृत्तियो को उखाडने के उपाय हैं—ध्यान, कायोत्सर्ग, प्राणायाम, जपसाधना आदि। इनके प्रयोग से कुछ उलझनें भी आ सकती है। कभी कभी तो ऐसा भी हो जाता है, इतने बुरे विचार और कलुष भावनाए उसको बुरी तरह घेर लेते हैं, जिनका उसने कभी भी अनुभव नही किया। ऐसी स्थिति मे अपने आपको सभाल पाना भी उनके लिए कठिन हो जाता है। किन्तु इस स्थिति मे घबराने वाले व्यक्ति की यात्रा अधूरी ही रह जाती है। उसके विकास के द्वार कभी भी खुल नही सकते। मन की गाठो को खोलने के लिए आवश्यक है, जब भी जैसे भी विचार आए

हम द्रष्टा बनकर उन्हें देखते जाए। न तो उनसे घबराए और न उन्हे बुरा मानकर पुन अवचेतन के गह्वर मे घुसेडने का प्रयत्न करें। जमे हुए कूडे के ढेर को उखाडने से एक बार बदबू तो फूटती ही है, पर बिना उखाडे वह गन्दगी दूर भी तो कैसे हो सकती है। बदबू से डरने या लडने से वह दूर नही हो सकती अपितु उसके केन्द्र को जरा-सा हिला दें या उखाड दें तो वह स्वत उखड जाएगी और धीरे-धीरे वहा से मरक जाएगी।

वैसे ही हम वृत्तियो और सस्कारो के केन्द्र, सूक्ष्म मन को झकझोर दें, उसमे हलचल पैदा कर दें। जो वृत्तिया उखडें, जो अच्छे या बुरे विचार आए, मात्र द्रष्टा भाव से, साक्षी भाव से उन्हें देखते रहे, वे अपने आप बाहर निकल जाएगे। गृहस्वामी के जागते हुए क्या चोर भीतर घुसने का साहस कर सकता है ?

मनोभूमि की विशुद्धि के पश्चात् आवश्यकता है, उसमे नये सिरे से कूडा करकट न जमने पाए। सस्कारो की गाठें न खुलने पाए और कुठाए न पनपने पाए। इसके लिए मन को सदा सत्सकल्पो, मगल-विचारो और पवित्र भावनाओ से भरा-पूरा रखना अपेक्षित है। जिसका मन सदा मैत्री, स्नेह, करुणा और प्रसन्नता से भरा रहता है, उसमे ईर्ष्या, द्वेप, घृणा, प्रतिशोध की भावना आदि को स्थान ही कहा मिल पाता है।

अस्तु, मन को तनाव, बिखराव और कुठाओ से मुक्त रखने के लिए पूर्व ग्रन्थियो का विमोचन, कुंठाओ का रेचन और मानसिक परिष्करण जितना अपेक्षित है, उतना ही आवश्यक यह भी है कि उसको सभावित ग्रन्थिपात से सजगता पूर्वक बचाए रखें।

भगवान् महावीर की दृष्टि मे इसका एकमात्र उपाय है—

"जहा अतो, तहा बाहिं, जहाबाहिं, तहा अतो"[१]

—साधक जैसा अन्तस् मे, वैसा बाहर मे, जैसा बाहर मे, वैसा अन्तस् मे रहे।" अन्तस् और बाहर—इन दोनो अवस्थितियो का सूक्ष्म पर्यवेक्षण कर, महावीर ने दोनो के शोधन को अनिवार्य समझा। उन्होने कहा—केवल अन्तस् का शोधन ही पर्याप्त नही है। बाहरी व्यवहार शुद्ध होना चाहिए। वह अन्तस् का प्रतिबिम्ब है। केवल बाहरी व्यवहार का शोधन भी पर्याप्त नही है। अन्तस् के शोधन के बिना वह मात्र दिखावा है,

और है वृत्तियो का केवल दमन। इसलिए अन्तस् का शोधन भी अनिवार्य है। अन्तस् और बाहर दोनो की शुद्धि ही साधना की परिपूर्णता है। साधना की इस प्रोन्नत भूमिका पर पहुच जाने के बाद मन के बाहरी और भीतरी कक्षो की भेद-रेखा समाप्त हो जाती है। वहा मन के विशाल कक्ष के खुले वातायन, हर पवन-लहरी का, हर आलोक-किरण का अभिवादन करते रहते है।

संदर्भ

१ आयारो २।५।१२६

१२

आनन्द की राह

"जितना सोयें उतना पाए, क्यो कोई आ हमे जगाए ?
हम हैं स्वय-स्वय मे लीन, क्यो हो गर्वित क्यो हो दीन ?"

ये पक्तिया हैं युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी की, जिन्होंने कई वर्ष पूर्व स्वर्गीया साध्वीप्रमुखा महासती श्री लाडाजी के नाम दिए गए एक पत्र मे लिखी थी।

मुझे ये पक्तिया बहुत प्रिय लगती हैं। जब भी ये स्मृति-पट पर उभरती हैं, मैं एक मस्ती-भरी गुनगुनाहट मे खो जाती हू।

इस पद्य के माध्यम से आचार्य-प्रवर ने उन सुख-शय्याओ मे सुख की नीद सोने की प्रेरणा दी है जो व्यक्ति को असत् से सत्, अविद्या से विद्या और तम से ज्योति की ओर ले जाती है। वह सोना भी जागरण का पर्याय बन जाता है। वहा सारी वेदनाए धुल जाती हैं, चिन्ताए गल जाती हैं और आकाक्षाए सिमट जाती हैं। वहा सोकर व्यक्ति अन्तर्जगत् मे प्रवेश पा लेता है। उससे विकास के द्वार खुल जाते हैं और आनन्द के स्रोत फूट पडते हैं। यह स्थिति आश्चर्यजनक लगती है कि कही सोना भी उपलब्धि का हेतु बन सकता है ? लेकिन महापुरुषो की वाणी रहस्यमयी होती है। उसकी गहराई मे उतरकर ही हम यथार्थ से अवगत हो सकते हैं।

मेरे सामने से अनेक आकृतिया गुजर रही हैं और सदा गुजरती ही रहती हैं। कभी कभी अनचाहे ही मन उस ओर खिंच जाता है, तो मैं उन्हे पढने लगती हू, बहुत गहराई से पढती हू। हसी-खुशी के वातावरण मे भी

उन पर विषाद और व्यथा की छाया दृष्टिगत होती है।

जिनके सम्बन्ध मे मैं महान् सुखी होने की कल्पना करती हू वहा मुझे मिलती है—मन को ऊबा देने वाली घुटन, गहराती हुई वेदना और निराशा का कुहासा।

लगता है, भव्य इमारतें, कारो की चमक-दमक, करोडो की पूजी, शाही ठाट-वाट और हर भौतिक सुख-सुविधा की उपलब्धि—इन सवको पाने वाला व्यक्ति भी आनन्द की अनबुझी प्यास से तडपता रहता है। वह यद्यपि वातानुकूलित कमरे और फूलो की शय्या मे सोता है, फिर भी मन वेचैन चिन्ताओ का जाल—सकल्प-विकल्पो की भीड—एक अज्ञात पीडा—एक कसक न जाने नीद भी क्यो कतराती है उससे ?

इससे यह प्रतीत होता है कि हमारे शरीर और बुद्धि से परे भी एक ऐसी भूख, एक ऐसी प्यास और एक अभीप्सा विद्यमान है, जिसे वाहर से सव-कुछ पाकर भी शान्त नही किया जा सकता।

वस्तुत हम अपने आप मे इतने परिपूर्ण और सक्षम हैं कि वाहर से कुछ पाने की अपेक्षा ही नही रहती। लेकिन कृत्रिम अपेक्षाओ के जाल मे हम इस कदर फसे रहते हैं कि भीतर झाकने का अवकाश भी नही मिलता।

अध्यात्म-योगी महावीर ने कहा—'पुढोछदा इह माणवा'—मानव-मानस विविध अपेक्षाओ से जुडा रहता है। यह अपेक्षाओ का विस्तार उसे आनन्द की राह से भटका देता है। चेतना की ऊचाई से फिसला देता है।

अपने ही भीतर छिपे हुए आनन्द के अक्षय कोप से अनजान व्यक्ति अपने को वाहर से भरना चाहता है। पर जितना वह वाहर सें अपने को भरता है उतना ही भीतर से रीतता जाता है।

व्यक्ति की हर कामना पूरी हो जाए, यह नितान्त असभव है।' ऐसी स्थिति मे उसके मानस मे निरतर एक चुभन-सी वनी रहती है जो उसे कभी भी शान्ति से नही सोने देती।

अपेक्षाओ के जगत् से मुडकर ही व्यक्ति उस रसातीत रस का अनुभव कर सकता है जिसके सामने स्वादु-से स्वादु पकवान भी नीरस और फीके प्रतीत होने लगते हैं। उस वाह्य निरपेक्ष सुखद स्थिति को प्राप्त करने के

लिए भगवान् महावीर ने चार उपाय सुझाए हैं, जो 'सुख-शय्या' के नाम से पुकारे जाते हैं और आचार्यश्री ने अपने पद्य मे उसी ओर सकेत किया है। उनमे पहला सूत्र है—सत्य के प्रति अटूट विश्वास।

सत्यनिष्ठ होने के लिए स्वय मे विश्वास होना अत्यन्त अपेक्षित है। स्वय के प्रति विश्वस्त व्यक्ति ही दूसरो के प्रति विश्वस्त रह सकता है। सबके प्रति विश्वस्त रहने वाला सत्य के प्रति अविश्वस्त हो ही नही सकता।

अपने लक्ष्य, प्रवृत्ति और प्रगति के प्रति भी विश्वास होना जरूरी है। सदेहशील व्यक्ति व्यावहारिक दृष्टि से भी सफल नही हो सकता। वह नीरस और कटा हुआ जीवन जीता है। उसे न अपने अस्तित्व, कर्तृत्व और व्यक्तित्व पर भरोसा होता है और न दूसरो पर। सन्देह मानसिक तनाव उत्पन्न करता है। उससे पारस्परिक स्नेह और सौहार्द का स्रोत सूख जाता है। मन सदा भय और आशका मे भरा रहता है। दबे हुए भय और आशका कभी भी विस्फोटक स्थिति पैदा कर सकते हैं। पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय—अनेक समस्याओ के मूल मे यह सन्देहवृत्ति ही कार्य करती है।

दूसरा सूत्र है—स्वलाभ मे सन्तुष्टि और परलाभ मे अनाशसा।

यह बहुत कठिन साधना है। सामान्यत व्यक्ति को दूसरे का सुख और समृद्धि अधिक दीखती है और अपनी कम। व्यक्ति की इस मनोवृत्ति का सजीव चित्रण देखिए कवि की इन पक्तियो मे—

छोडकर नि श्वास कहता है नदी का यह किनारा,
उस किनारे पर जमा है जगत भर का हर्ष सारा,
वह किनारा किन्तु लम्बी सास लेकर कह रहा है—
हाय रे ! हर एक सुख उस पार ही क्यो बह रहा है ?

इस प्रकार अपनी उपलब्धि मे असन्तुष्ट रहने वाला व्यक्ति परकीय उपलब्धि से जलता है या उस पर हस्तक्षेप करता है। इसमे अनेक उलझनें सामने आती हैं। दूसरे की प्रगति के प्रति असहिष्णुता महान् मानवीय दुर्बलता है। पारिवारिक, जातीय, सामाजिक, धार्मिक और भाषायी विवादो की जड यह असहिष्णु वृत्ति ही है। इसी वृत्ति ने न जाने कितनी

बार मानव-जाति को युद्धो की लपटो मे झोका है। काश ! आज के विकासशील और विकसित राष्ट्र अपने अधिकारो की सुरक्षा करते हुए अपनी प्रगति मे सन्तुष्ट रहते। तब विस्तारवादी मनोवृत्ति और आक्रामक नीति को पनपने का अवसर ही नही मिलता।

तीसरा सूत्र है—कामभोगो से गहरी विरक्ति।

व्यक्ति का चैतन्य-जागरण जितना स्वल्प होता है, मन और इन्द्रिया उतने ही बाहर दौडते है। ऊर्जा और चेतना का बहाव भीतर न होकर बाहर की ओर होने लगता है। बहिर्मुख व्यक्ति बाह्य के प्रति आसक्त रहता है लेकिन उसे कभी अन्तस्तोष नही मिलता। असन्तुष्ट मानव की बगिया मे आनन्द के फूल खिल नही सकते। इसीलिए महावीर ने सुझाया —'दिट्ठेहि निव्वेय गच्छेज्जा'—दृष्ट पदार्थो से उदासीन रहो। यह विरक्ति ही अन्तर्दर्शन का मूल और आन्नद का स्रोत है।

चौथा सूत्र है—समुद्भूत वेदना मे तितिक्षाभाव।

वेदना दो प्रकार की होती है—शारीरिक और मानसिक। शारीरिक वेदना प्रगति मे बाधक बन सकती है पर घातक नही। घातक बनती है मानसिक वेदना। अनुकूल-प्रतिकूल स्थितिया, उतार-चढाव और घुमाव प्रत्येक व्यक्ति के जीवन-पथ मे आते है। दुर्बल मानस उनसे बहुत जल्दी प्रभावित हो जाता है। वह जरा-सी अनुकूलता मे प्रसन्न और प्रतिकूलता मे विषण्ण हो उठता है। दोनो स्थितियो मे मानसिक सन्तुलन बनाए रखना अत्यन्त अपेक्षित है। परिस्थिति-विजय का सुन्दर उपक्रम है—उनसे ऊपर उठ जाना। यदि हम ऊपर उठ जाएगे तो परिस्थितियो का प्रवाह नीचे से बह जाएगा। हमारा किंचित् भी अनिष्ट नही कर सकेगा। और यदि हम उस प्रवाह मे बैठ जाएगे तो वह हमे बहा ले जाएगा।

परिस्थिति से ऊपर उठ जाने का अर्थ है—उसका अस्वीकार।

जो तटस्थ होकर प्रिय-अप्रिय स्थितियो को सहना जानता है, वह सचमुच जीना जानता है, हसते-हसते प्रसन्नता से जीना जानता है और कुछ कर गुजरना भी जानता है।

इन सुख-शय्याओ मे,सोने वाला व्यक्ति काल्पनिक या अतृप्त वासनाओ के कारण उभरने वाले सपनो मे नही, अपितु दिव्य आनन्दलोक मे खोया

रहता है। वह अपने आप में इतना लीन रहता है कि उसे कोई भी स्थिति प्रसन्न या विषण्ण नही बना सकती।

इन सुख-शय्याओ मे सोने का अर्थ है, अपने आपको इन साधना-सूत्रो से भावित करना। जिसका मन इनसे भावित हो जाता है उसे सुख-प्राप्ति के लिए किसी का द्वार खटखटाना नही पडता। किसी से दया की भीख मागनी नही पडती। किसी को खुश रखने के लिए वह न आतुर होता है और न किसी की नाराजगी से चिन्तित। वह अपने मे ही लीन, अनवरत बढता चला जाता है—अपने लक्ष्य की ओर, जहा मात्र सुख और शान्ति का साम्राज्य है।

१३

साम्ययोग की निष्पत्ति

सम्राट् पाइथागोरस के हृदय मे पराक्रम हिलोरें ले रहा था। दिग्विजय की महत्त्वाकाक्षा उनको चैन से सोने नही देती थी। अपनी विशाल सेना के साथ उन्होंने इटली की ओर प्रयाण कर दिया। युद्ध की भेरी बज उठी। तभी उनके एक विद्वान् मित्र साइनेस ने पूछा—"आप यह यात्रा किसलिए कर रहे हैं ?"

"रोम-विजय के लिए !" सगर्व सम्राट् ने उत्तर दिया—"मैं शूरो की इस नगरी को पददलित करूंगा, और अपने अदम्य पराक्रम का कीर्तिमान स्थापित करूगा।"

"इस विजय के पश्चात् आप क्या करेंगे ?" मन्द मुसकान बिखरते हुए मित्र ने पूछा।

"इसके पश्चात् मैं इटली को अपने अश्वारोहियों के पावो तले रौंद डालूगा।"

"और उसके बाद ?" एक करुण हसी हसते हुए उसने फिर पूछा।

"उसके बाद··· ? उसके बाद मैं मैसीडोनिया, अफ्रीका, ग्रीस और सीरिया को जीतूगा।"

"फिर क्या करेंगे ?"

"फिर मैं शान्तिपूर्वक प्रजा-पालन करूगा। चैन से जीऊंगा।' बडे ही इतमीनान के साथ सम्राट् ने कहा।

"यह तो आप आज ही कर सकते हैं, इसी क्षण कर सकते हैं। शान्ति और सुख से जीने के लिए क्या अपेक्षा है इस रक्तपात की, बर्बरता की और पैशाचिकता की ?" दीर्घ नि श्वास छोडते हुए मित्र ने कहा।

यह मार्मिक घटना-प्रसग एक बहुत बडे यथार्थ का उद्घाटन कर रहा है।

वस्तुत सुख, शान्ति और आनन्द को पाने के लिए कही भी जाने की अपेक्षा नही। शान्ति किसी बाहरी साम्राज्य को जीतने से नही, अपितु आत्म-साम्राज्य को पाने से उपलब्ध होती है।

सच तो यह है कि सुख और दु ख का मूल कारण व्यक्ति स्वय ही होता है। उसकी नियन्त्रित वृत्तिया जहा उसकी राहो मे फूल बिछाती हैं, वहा अनियन्त्रित वृत्तिया ही शूलें बनकर उसके मन और प्राणो मे प्रतिक्षण चुभन पैदा करती रहती हैं। कितनी यथार्थ हैं ये पक्तिया—

"हम खुद अपने ही हाथो से,
गुल करते हैं खुशियो की रोशनी को।
कारण बाहर की हवा नही होती।
मन के उपजाए लम्बे-चौडे दु ख की,
दोस्त, कर ले कुछ भी
असल मे कोई दवा नही होती।"

हा, भगवान् महावीर ने एक आध्यात्मिक औषध अवश्य बताई है, जिसके सेवन से व्यक्ति एक क्षण मे अनगिनत मनोव्याधियो से छुटकारा पा सकता है। उस दिव्य औषध का नाम है—समता।

विषम मन के धरातल पर ही दु खो का अकुरण होता है। उन अकुरो से विक्षोभ, व्याकुलता, निराशा, अनुत्साह, आत्मग्लानि आदि की कोपलें फूटती हैं। घृणा, वैमनस्य, दुराग्रह, प्रतिशोध आदि के फूल खिलते हैं और पुन फलते हैं अनेक प्रकार की समस्याओ के विषैले फल।

समता एक ऐसा रसायन है, जिसके छिडकाव से उन विषैले पौधो का समूल उन्मूलन हो सकता है।

परम साम्ययोगी महावीर ने कहा—

"अरइ आउट्टे से मेहावी"

—मेधावी व्यक्ति वह होता है जो उस रसायन से मानसिक विक्षोभ या लक्ष्य के प्रति होने वाले अनास्थाभाव के अकुरो को पनपने से पहले ही समाप्त कर देता है। उनका प्रत्यावर्तन कर देता है। और ऐसा करने वाला —'खणासि मुक्के'—तत्क्षण, विषमता-जनित दु खो से, उलझनो मे छूट जाता है। अनिर्वचनीय मन प्रसत्ति की निर्मल धाराओ मे उसकी वेदनाए, व्यथाए एव कलुषताए घुल जाती हैं।

कोई भी व्यक्ति यदि अशान्त होता है तो वह अपने ही चिन्तन और गलत कार्यो से होता है। इसके विपरीत जिसके मन मे समत्व-प्रतिष्ठित हो जाता है, उसके पाव कभी गलत दिशा मे नही उठते। उसके हाथ कभी गलत कार्यो मे व्यापृत नही होते।

'समत्तदसी न करेइ पाव'—जिसकी दृष्टि समता मे परिपूर्ण हो जाती है, वह कभी पाप नही करता।

क्रूरता की प्रतिकृति कालसौकरिक कसाई के पुत्र 'सुलस' से जब कहा गया कि अपने कुलक्रमागत धर्म को निभाने के लिए भैंसे की हत्या करनी होगी, उसकी गर्दन पर तलवार चलानी होगी, तो उसने कहा—"यह काम मेरे से नही होगा, क्योकि मेरा मन समत्व मे प्रतिष्ठित हो चुका है। मुझे अपने और इस भैंसे के शरीर मे एक ही प्राण-धारा, एक ही चैतन्य-धारा प्रवाहित होती हुई नजर आती है।"

जिसके भीतर अनवरत समता और करुणा के प्रपात प्रवाहित होते रहते हैं उससे क्रूर कार्य की आशा कैसे की जा सकती है।

विषमताओ के तूफान से जब-जब जीवन-नौका विपदाओ के अन्तहीन सागर मे डूबने लगे तब-तब यदि हम उस नौका के मस्तूल पर प्रसन्नता की पताकाए फहरा दें और समता की लगर डाल दें तो निश्चित ही हमारी जहाज सुरक्षित रह जाएगा और हमारा जीवन समाप्त होने से उबर जाएगा।

'एक कुशल नाविक ने किसी नौसिखिये मल्लाह से पूछा—"नौका-यात्रा करते हुए यदि तूफान आ जाएगा तो तुम क्या करोगे ?"

"मैं लगर डाल दूगा।" उसने पूरे आत्मविश्वास के साथ कहा।

"यदि फिर तूफान आ जाएगा तो क्या करोगे ?"

"मैं फिर लगर डाल दूगा।"

"और फिर तीसरी बार तूफान आ जाएगा तो ?"

"मैं फिर लगर डाल दूगा।"

"भले आदमी, आखिर तुम्हारे पास इतने लगर आएगे कहा से ?"

"महाशय, जिधर से आपके तूफान आएगे उधर से मेरे लगर भी आ जाएगे ?"

कितना विवेकपूर्ण उत्तर था उसका ! सचमुच समता एक ऐसा लगर है जो हर परिस्थिति मे हमारे जीवन-जहाज को सन्तुलित और नियन्त्रित रख सकता है। उसका प्रयोग हम चाहे जितनी बार करें, वह समाप्त नही होगा।

वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि किसी भी समस्या को लें, उसका उत्स विषमता ही है। उसके स्थान पर यदि हम समता को प्रतिष्ठित कर दें तो हमारे बाहर-भीतर सुख, शान्ति और प्रसन्नता का सागर हिलोरें लेता प्रतीत होगा। उसके लिए अपेक्षा है अन्तर्यात्रा की और आत्म-विजय की। बाहरी विजय को अर्थहीन बताते हुए महावीर ने कहा—

"जो सहस्स सहस्साण, सगामे दुज्जए जिणे।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ।"[1]

—सग्राम मे हजारो-हजारो दुर्जेय शत्रुओ को जीतने की अपेक्षा, एक अपनी आत्मा को जीतने वाला महान् विजेता होता है। आत्म-विजय का अर्थ है अपने आपको सम्योग मे प्रतिष्ठित करना। साम्ययोगी कभी विक्षुब्ध या अशान्त नही होता। वह हर स्थिति मे परम प्रसन्न रहता है।

महावीर की भाषा मे—

'समय तत्थुवेहाए, अप्पाण विप्पसायए'[2]

—पुरुष जीवन मे समता का आचरण कर आत्मा को प्रसन्न करें।

ऐसा करने पर व्यक्ति अपने जीवन के विशाल साम्राज्य को उपलब्ध

१४

रूपान्तरण : बाहर और भीतर का

प्रात कालीन आचाराग सूत्र की वाचना के प्रसग में युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी ने हम साध्वियो को एक श्लोक सिखाया, जो मुझे अत्यन्त ही मार्मिक प्रतीत हुआ। वह यह था—

"अग्रे व्याध करघृतशर पार्श्वतो जालमाला,
पृष्ठे वह्नि र्दहति नितरा वामत सारमेया।
एणी गर्भादलसगमना वालकैं रुद्धपादा,
चिन्ता विष्टा वदति हरिण किं करोमिक्व यामि॥"

एक हरिणी हरिण और अपने बच्चो के साथ जगल मे घूम रही थी। अचानक उसने देखा, हाथ मे वाण लिये एक शिकारी उसके सामने खडा है। दाहिनी ओर घूमकर देखा तो लगा वहा पहले से ही जाल विछे हुए हैं। वह घवरा गयी। पीछे भागना चाहा तो देखा, आग की लपटें आकाश को छू रही है और वायी ओर का पथ भी निरापद नही है। उधर शिकारी कुत्ते उस पर टूट पडने को आतुर हैं। गर्भवती होने के कारण वैसे ही उसकी गति मन्थर थी और नन्हे नन्हे भयभीत वच्चे सिकुड-सिकुडकर उसकी ओट मे छिपाने की चेष्टा मे उसके पावो को वार-वार रोक रहे थे।

चारो ओर खतरो से घिरी हरिणी ने अपनी अन्तर्वेदना को व्यक्त करते हुए हरिण से कहा—प्राणेश! अव वचाव का कोई भी मार्ग नही सूझ रहा है। आप ही वताए मैं क्या करु और कहा जाऊ?

दिन भर यह पद्य मेरे कानो मे गूजता रहा और मस्तिष्क में घूमता

रहा।

जागतिक समस्याओ के परिप्रेक्ष्य मे जब मैंने इस पथ पर चिन्तन किया तो लगा, आज समूचा विश्व-मानव ही इसी दुविधा की स्थिति मे जी रहा है।

समस्याए,औरए समस्या

अभाव, बेकारी और महगाई की समस्या के अतिरिक्त उत्पादन की समस्या, औद्योगिक और व्यावसायिक समस्या, सावैधानिक समस्या, प्रशासनिक समस्या, अर्थ के अर्जन की, उसके सम्यक् नियोजन की और सरक्षण की समस्या, स्वास्थ्य की चिन्ता, पारिवारिक जटिलता, सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न—ऊपर-नीचे, आगे-पीछे, दाए-बाए समस्या, समस्या-समस्या।

जाने कितनी कितनी समस्याओ से वह एक साथ पिसा जा रहा है। उनसे जूझते-जूझते उसकी शक्तिया क्षीण हो चुकी हैं, चरण उलथ हो चुके हैं। अपनी बची-खुची आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति को बटोरकर उनको निरस्त करना चाहता भी है तो सामाजिक मूल्य, अर्थहीन परम्पराए और राजनैतिक परिस्थितिया उसे वही रुक जाने को विवश कर देती है।

ऐसी स्थिति मे वह कुछ सोच भी तो नही पाता कि वह क्या करे और कहा जाए ?

प्रतिक्षण अन्तर्वेदनाओ मे घुलते रहना, चिन्ताओ मे जलते रहना, व्यथाओ के आसू पीते रहना और मजबूरी के नाम पर चाहे जैसे घिनौने कृत्य करते रहना आज के तथाकथित सभ्य और शिष्ट समाज का जीवन-क्रम बन गया है।

अपेक्षा है इन समस्याओ के मूल को पकडकर उस पर प्रहार किया जाए और बहुमुखी प्रहार किया जाए।

देखा जाता है और अनुभव भी किया है कि कही साधारण अग्निकाड हो जाता है तो तत्काल अग्निशामक दल (फायर ब्रिगेड) उसको बुझाने मे अपनी पूरी शक्ति लगा देता है, घटनास्थल पर अनेक-अनेक दमकलें चारों ओर से पूरे वेग के साथ जलधारायें छोडती हैं, परिणामत वे तत्काल आग

बुझाने मे सफल हो जाती हैं। उनका थोडा-सा भी प्रमाद, श्लथता और चौमुखी प्रयत्न का अभाव कितना प्रलयकर हो सकता है, यह किससे अज्ञात है ?

काश, अन्तर्जगत् मे सुलगने वाली अनगिन समस्याओ की आग को बुझाने के लिए भी सतर्कता बरती जाए और चौमुखी प्रयत्न किया जाए।

आचाराग सूत्र भगवान् महावीर की वाणी का प्रतिनिधि सूत्र है। वह महावीर की अध्यात्म-अनुभूतियो से भरा-पूरा है। उसमे दु ख-मुक्ति के ऐसे पाच उपाय निर्दिष्ट हैं, जिनकी गहराई मे हर प्रकार की समस्या का समाधान सन्निहित है। वे सूत्र हैं—(१) ऋजुता, (२) असगता, (३) सहिष्णुता, (४) जागरूकता और (५) मित्रता।

वस्तुत हर समस्या का अकुरण और पल्लवन मनुष्य के भीतर होता है। वह अपनी वृत्तियो से ही उसे गढता है, लेकिन समाधान उसका बाहर खोजता है।

अपनी कुटिया मे खोयी सुई को बाहर बिजली के प्रकाश मे ढूढने वाली बुढिया का हम मखौल उडा सकते हैं, पर क्या आज समूची मनुष्य-जाति उसी भूल की पुनरावृत्ति नही कर रही है ?

समाधान भीतर

महावीर ने कहा—समस्यायें भीतर जनमती हैं तो उनका प्रतिकार भी भीतर से ही प्रारम्भ होना चाहिए। अन्तर्जगत् यदि बदलेगा तो बहिर्जगत् तो अपने आप उससे प्रभावित हो जाएगा।

उल्लिखित पाचो सूत्रो का अनुशीलन व्यक्ति को सहज ही अनेक उलझनो से मुक्त कर देता है।

ऋजुता

आज मनुष्य इतने कृत्रिम ढग से जिए जा रहा है कि उसकी असलियत का पता लगाना भी कठिन हो जाता है। उसकी सासें बनावटी हैं, भाषा बनावटी है, हसी बनावटी है, खुशी बनावटी है। एक अभिनेता की तरह न जाने वह कितने-कितने अभिनय करता रहता है दूसरो को छलने के लिए,

पर होता इससे विपरीत ही है। दूसरो को छलने के भ्रम मे वह स्वय न जाने कितना परेशान होता है। वह कभी भी शान्त और प्रसन्न नही रह सकता। पल-पल आशकाए घेरे रहती हैं उसे, कि कही ये मुखौटे गिर न जाए और मेरी असलियत सामने न आ जाए। इन दुहरी चालो से न कोई उसका भरोसा कर सकता है और न वह दूसरो का। कितनी सचाई है इन पक्तियो मे…

"हर मुर्दादिली मे मैं श्वास भर सकता हू,
हर जिन्दादिली का मैं एहसास कर सकता हू,
विश्वास का जहा तक सवाल है, वहा इतना ही कहूगा
कि सिर्फ आदमी के सिवाय, मैं सबका विश्वास कर सकता हू।"

सचमुच आदमी दुनिया का सबसे अधिक खतरनाक प्राणी है। इसीलिए आदमी से आदमी जितना भयभीत है, उतना और किसी से नही है। महावीर ने कहा—',धम्म विउति अजू—जिसने अध्यात्म को जान लिया, धर्म को पा लिया, उसका अन्त करण ऋजु होता है, सहज होता है। सरल मानस सदा अकुतोभय होता है। भय सदा अन्धकार मे होता है, प्रकाश मे नही। ऋजु व्यक्ति सदा स्पष्ट रहता है।

असगता

महावीर की दृष्टि मे दु ख का प्रबलतम हेतु है—सग-आसक्ति। उन्होने कहा—"आवट्टसोए सग मभिजाणह"—आसक्ति चक्राकार स्रोत है। केवल स्रोत मे वह जाने वाला व्यक्ति बहते-बहते कभी तट को पा भी सकता है, पर जहा प्रवाह मे भवर-चक्र पडते हैं, वे बहुत भयकर होते हैं। उसमे गिर जाने के पश्चात् मनुष्य की तो बात ही क्या, विशालकाय हाथी भी चूर-चूर हो जाते हैं। बडे से बडे जगी जहाज भी टुकडे-टुकडे हो जाते हैं।

ठीक इसी प्रकार आसक्ति के भवर मे फस जाने के पश्चात् उससे निकल पाना वश की बात नही रहती।

आसक्ति का अर्थ है बाह्य पदार्थों के प्रति आन्तरिक लगाव, गहरा चिपकाव। उसका विश्वास बाह्य पर इतना केन्द्रित हो जाता है कि वह

अपने आन्तरिक ऐश्वर्य और सामर्थ्य को पहचान भी नही सकता। इसी-लिए वह वैषयिक जगत् को सब कुछ मानकर उसी के व्यामोह मे फस जाता है और पाता है पीडाए, वेदनाए और यातनाए।

अनासक्त व्यक्ति बाह्य से निरपेक्ष होता है। उसे स्वय पर, स्वय की क्षमताओ पर और अन्तर्जगत् पर पूरा भरोसा होता है, इसलिए वह अपने मन, इन्द्रियो और वृत्तियो का स्वामी होता है। उसे न कभी कोई आकाक्षा सताती है, न भय। अपने पर प्रभुत्व स्थापित करने वाला ही जगत् का प्रभु, शासक और सम्राट् बन सकता है। यह स्थिति अनासक्त साधक ही प्राप्त कर सकता है

चाह गयी चिन्ता मिटी, मनुवा बेपरवाह।
जिसको कछु न चाहिए, सो ही शाहशाह॥

सहिष्णुता

जीवन-यात्रा मे उतार-चढाव और घुमाव अवश्यभावी हैं। अनुकूलता और प्रतिकूलता अपरिहार्य तत्त्व हैं। लेकिन दुर्बल मानस जहा अनुकूलताओ मे आत्म-विस्मृत हो जाता है वहा प्रतिकूलताए उसे एकदम विचलित, क्षुब्ध और निराश कर देती हैं। वह अपने मन, मस्तिष्क और वृत्तियो पर नियन्त्रण स्थापित नही कर सकता। असन्तुलित मानस कभी भी सुखी और सन्तुष्ट नही रह पाता। उसे थोडी भी प्रतिकूलता भारी लगने लगती है। इसीलिए महावीर ने कहा—"यदि सुखी रहना है तो सहिष्णु रहना सीखो।"

"सीउसिणच्चाई से निग्गन्थे, अरइ-रइ-सहे फारुसिय णो वेदेति।"

—जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों को समता से सह लेता है, उसके मन मे कभी गाठे नही घुलती। वह न प्रियता के लिए अकुलाता है और न अप्रियता से कतराता है। सच तो यह है कि उसे जीवन की कठिन से कठिन घडिया भी कठिन प्रतीत नही होती। वह सहजता से उन्हें पार कर देता है, मात्र इसी प्रशस्त चिन्तन से कि

"न मे चिर दुक्ख मिण भविस्सई।"

"—यह कष्ट चिरकाल तक ठहरने वाला नही है।

जागरूकता

आचार्य भिक्षु प्रवचन कर रहे थे। एक श्रोता ऊंघ रहा था। भिक्षु ने टोका—"सो रहे हो ?" "नही, महाराज !" कहकर वह फिर सोने लगा। स्वामीजी ने कई बार सचेष्ट किया। वह सिर हिलाते हुए नकारता ही रहा। आखिर मे आचार्य भिक्षु ने कहा—"श्रावकजी ! जी रहे हो ?" उसने अपना वही जमा-जमाया उत्तर दिया—"नही, महाराज !" श्रोता-वर्ग खिलखिला उठा।

लेकिन वस्तुत उत्तर मे कितनी सच्चाई थी। सोया हुआ व्यक्ति कब जीता है ? इसीलिए महावीर ने कहा—"मती मरण सपेहाए"—जागृति शान्ति है और सुपुप्ति मृत्यु, यह जानकर समझदार व्यक्ति जागृति का अभ्यास करे। भगवान् ने सुपुप्ति और जागृति के अर्थ मे प्रमाद और अप्रमाद शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने देखा—"सव्वतो परमत्तस्समेय, सव्वतो अप्पमत्तस्स नत्थि भय।"

प्रमत्त को सब ओर से भय रहता है और अप्रमत्त को कभी भी किसी प्रकार का भय नही सताता। इसलिए प्रतिक्षण जागरूक रहो। अपनी वृत्तियो के प्रति जागरूक रहो, प्रवृत्तियो के प्रति जागरूक रहो। प्रतिक्षण जागृत रहने वाला व्यक्ति अतीत की यादो और भविष्य की कल्पनाओ मे नही उलझता। वह वर्तमान मे जीता है और आनन्दपूरित जीवन जीता है। वह हर कठिन घडी मे गुनगुनाता रहता है—

कल का दिन किसने देखा है,
आज का दिन खोए क्यो ?
जिन घडियो मे हस सकते हैं,
उन घडियो मे रोए क्यो ?"

मित्रता

ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, प्रतिशोध आदि के भावो से भरा हुआ व्यक्ति पद-पद पर अनगित शत्रुओ मे घिरा रहता है और आए दिन नये नये शत्रुओ को पैदा करता रहता है। फिर उनसे अपनी सुरक्षा के लिए कितने प्रयोग

करने पड़ते हैं और कितने पहरे रखने पड़ते हैं। आश्चर्य तो यह है कि अनेक सशक्त पहरो मे भी वह अपने को असुरक्षित पाता है और पल-पल भय से कापता रहता है।

महावीर ने कहा—"वेरोवरए"—तुम स्वय के भीतर छिपे जहर को समाप्त कर दो, किसी के प्रति शत्रुता का चिन्तन ही मत करो। अपने अन्त करण को मैत्री, करुणा और स्नेह से भरे रखो। कण-कण से मैत्री और प्रेम की धाराए प्रवाहित करते रहो, फिर दुनिया मे तुम्हारा कोई शत्रु नही रहेगा। विष अमृत मे बदल जाएगा, खार प्यार मे बदल जाएगा और आनन्द ही आनन्द का झरना बहने लगेगा।

उल्लिखित पाचो सूत्रो की साधना निश्चित ही हमारे बाहर और भीतर को बदलने मे सफल सिद्ध हो सकेगी। फिर किसी भी विपद्ग्रस्त हरिणी को यह पुकार करने की अपेक्षा नही रहेगी कि "किं करोमि क्व यामि ?"

१५

विज्ञान की उड़ान : अध्यात्म का नियंत्रण

एक खगोलशास्त्री की धुन हर क्षण अन्तरिक्ष मे लगी रहती थी। उसकी दृष्टि टिकी रहती मात्र सौरमडल तथा अन्यान्य ग्रहो—उपग्रहो पर। एक बार रात्रि के समय वह ऊपर आकाश की ओर देखता, गहो की स्थिति और उनके प्रभाव के वारे मे सोचता-विचारता चल रहा था। चलता-चलता एक गड्ढे मे गिर पडा। एक वुढिया ने उसे निकाला। कृतज्ञता अभिव्यक्त करते हुए उसने कहा—"मा, कभी कोई काम हो तो मुझे याद करना। शायद आप मुझे नही जानती। मैं जर्मनी का सुप्रसिद्ध और सुपरिचित खगोलशास्त्री हू। हर नक्षत्र के भले-बुरे प्रभाव का अधिकृत ज्ञान मेरे पास है।"

वुढिया ने नफरत-भरी निगाहो से उसे घूरते हुए कहा—'अरे भले आदमी, वह नक्षत्र विद्या किस काम की, जो पैरो तले का गड्ढा भी न दिखाए'।

अन्तरिक्ष-युग मे जीने और चाद पर वार-वार सफल उडाने भरने वाले मनुष्य-समाज की क्या आज यही स्थिति नही है ?

वात यह है कि युग का रथ सदा आगे से आगे वढता ही रहता है—कभी मन्थरता से तो कभी तीव्रता से। लेकिन प्रगति की छटपटाहट युग-चेतना को सदा बैचेन किए रहती है। और बीसवी सदी के शुरु होते-होते

वह वेचैनी अधीरता मे वदल गयी। युग का रथ प्राचीन मान्यताओ, धारणाओ और परम्पराओ की वज्रमयी रेखाओ को तोडकर अत्यन्त द्रुत गति से आगे बढ गया।

सचमुच इस शताब्दी मे मनुष्य ने जितनी प्रगति और विकास किया है, सभवत पिछली सहस्राब्दी मे भी नही किया होगा।

उसने अर्थनीति, समाजनीति, राजनीति, धर्मनीति आदि हर क्षेत्र मे अपना प्रभुत्व और वर्चस्व स्थापित किया है। यह सब चमत्कार है मनुष्य की नि सीम बौद्धिक शक्ति का। उसने ज्ञान-विज्ञान के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्यो को खोलकर रख दिया। पाषण युग से एटम-युग की यात्रा उसने तय कर ली। बैलगाडी से धरती पर रेंगने वाला मनुष्य आज उपग्रहो पर बैठकर पूरी पृथ्वी की परिक्रमा करने लग गया है। वह दैत्याकार जलपोतो से सागर के वक्ष को चीरता हुआ आगे वढ रहा है और सुदूर अन्तरिक्ष की अगणित कक्षाओ को पार कर चाद और सूरज की पौराणिक गरिमा को ध्वस्त करने मे तुला है।

इधर वैज्ञानिक अनुसधानो और प्रयोगो ने मनुष्य को इतनी सुविधाए प्रदान की हैं कि वह मात्र एक यन्त्र वनकर रह गया है।

यह धरती भी एक ग्रह है, यह उसने विज्ञान के वल पर प्रत्यक्ष दिखा दिया है। आज मनुष्य के लिए समूची पृथ्वी सिमटकर छोटी हो गयी है, मानो एक छोटी-सी गेंद हो। योजनो का विस्तार मानो उसकी मुट्ठी मे कैद हो गया है। धरती के इस छोर पर वैठा मनुष्य दुनिया के उस छोर से ऐसे वातें करता है, मानो आमने-सामने वैठे हो। हजारो मीलो की दूरी पर घटने वाली घटनाए इतनी स्पष्टता से देखी और सुनी जा सकती हैं, मानो वे घटनाए सामने ही घट रही हो। वस्तुत आज मनुष्य के लिए कोई दूरी-दूरी नही रही है और अन्तर अन्तर नही रहा है। परिणामत. आज का युग अन्तर्राष्ट्रीय युग मे परिणत हो गया है।

साम्प्रदायिकता, जातीयता एव राष्ट्रीयता की खाइया पट रही हैं। एक देश की पीडा, अभाव और सन्त्रास तत्काल दूसरे देश को प्रभावित करते हैं। पारस्परिक सहयोग भी एक-दूसरे को सुलभ हो गया है।

मानव-जाति की अखण्डता आज कल्पना की नही, अपितु प्रत्यक्ष

अनुभूति का विषय बन गयी है। परन्तु सृजन के इस नव-प्रभाव मे जो विध्वस के बादल मडरा रहे हैं, उन्हे भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता। क्योकि आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगो ने विश्व-मानव को जितना निकट लाकर खडा कर दिया है, मानव हृदयो की दूरी उतनी ही अधिक बढ गयी है। पारस्परिक सबधो मे बिखराव, मानसिक अलगाव, रुचियो का टकराव, स्नायविक तनाव, स्वार्थों का फैलाव—इन सबमे मनुष्य जाति बुरी तरह आक्रान्त हो रही है। सहानुभूति, सौजन्य, स्नेह और सहयोग के सोते सूख रहे हैं। पारिवारिक और सामाजिक सबधो मे विष घुलता जा रहा है। विज्ञान ने मनुष्य को जितनी ऊचाई प्रदान की है, वह उतना ही अधिक बौना होता जा रहा है। फलत. निस्तेज और बीमार पीढी जन्म ले रही है। वर्तमान पीढी के स्नायविक तनाव और मानसिक कुण्ठाओ की प्रतिक्रिया है—मानसिक विक्षिप्तता और आत्म-हत्याओ के बढते हुए आकडे।

लगता है कि समूची मानवीय सभ्यता और सस्कृति विलुप्त होती जा रही है।

एक ओर समानता, सहयोग, समन्वय, सह-अस्तित्व और नि शस्त्रीकरण की बातें की जाती हैं और दूसरी ओर भयकर अणु-आयुधो और प्रक्षेपक शस्त्रो का निर्माण कर मनुष्यता को विनाश के गर्त मे धकेला जा रहा है। अहिंसा और विश्व-शान्ति के आदर्शों की दुहाई देने वाले शक्ति-सम्पन्न राष्ट्र स्वय को और अधिक विध्वसक और प्रलयकर शस्त्रास्त्रो से भरपूर करने मे जुटे हुए हैं।

कहते हैं कि रूस और अमेरिका का शस्त्रागार इतना भरपूर है कि वे एक-दूसरे को कई बार विनष्ट कर सकते हैं तथा सभी परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रो के पास इतनी शक्ति है कि वे चौदह बार मानवीय सभ्यता और समस्त मानव जाति को नष्ट कर सकते है।

विनाश के विभिन्न उपकरणो के भार से लदा विश्व कराह रहा है एव पेचीदा राजनैतिक स्थितिया उसे और भी उलझा रही हैं।

सत्ता का व्यामोह, विस्तारवादी मनोवृत्ति और अस्मिता का पोषण—इनसे आक्रात होकर विश्व-चेतना उस चौराहे पर खडी है, जिसकी कोई भी राह निरापद नही है। ऐसी स्थिति मे असहाय और निरुपाय मानवता

को कौन महा-विनाश से उबार सकता है ?

भगवान् महावीर की दृष्टि मे इन सब समस्याओ का मूल कारण है अध्यात्म का अभाव। उन्होंने कहा—

"पासह एगेवसीयमाणे, अणत्तपण्णे ?"

—तुम देखो—जो आत्म-प्रज्ञाशून्य है, वे अवसाद को प्राप्त होते हैं।

वास्तव मे बौद्धिक विकास एव ज्ञान-विज्ञान की नाना विधाओ का पारगामी बन जाना एक बात है, आत्म-प्रज्ञा की उपलब्धि दूसरी बात। क्योकि बुद्धि अस्थिर है और प्रज्ञा स्थिर। एक ही बुद्धि विविध रगो से रजित होने पर नाना रूप बन जाती है, जैसे द्वेष-बुद्धि, दया-बुद्धि आदि। इसलिए बुद्धि निर्णायक नहीं होती, वह भटकाने वाली होती है। ऐसी हजार बुद्धिया मिलकर भी मार्गदर्शक नही बन सकती। इसके विपरीत प्रज्ञा तटस्थ होती है, निर्णायक होती है।

अध्यात्म के क्षेत्र मे बुद्धि की अल्पता या अधिकता का महत्त्व नही, महत्त्व है स्वच्छता का, निर्विकारता का। असीमित बौद्धिक विकास भले ही ससार मे उथल-पुथल मचा दे, पर व्यक्ति का सही पथ-दर्शन और उसकी ऊर्जा का उचित नियोजन करने की सामर्थ्य तो प्रज्ञा की एक चिनगारी मे ही है। इसलिए यदि आत्म-प्रज्ञा जागृत नही है तो बुद्धि का असीमित विस्तार भी व्यर्थ है और यदि प्रज्ञा जागृत हो गयी है तो, भले ही व्यक्ति ज्ञान-विज्ञान की अन्यान्य विधाओ से अनजान है, वह अपने गन्तव्य को पा सकता है। श्रीमद् रायचन्द्र की भाषा मे—"

"जब जान्यो निज रूप को, तब जान्यो सब लोक।
नहीं जान्यो निज रूप को, तब सब जान्यो फोक॥"

यही बात भगवान् महावीर ने कही थी कि "जे एग जाणइ, से सव्व जाणइ"—जो एक आत्म-तत्त्व को पहचान लेता है, वह समग्र विधाओ को जान लेता है। आत्म-ज्ञान के अभावमे विज्ञान भीअज्ञान बन जाता है। महावीर ने कहा—अज्ञान के हाथो मे कोई भी ज्ञान सृजनात्मक नही बन सकता, और ज्ञान के हाथो मे अज्ञान भी सृजनात्मक बन जाता है।

आत्म-तत्त्व को पहचान लेने का अर्थ है—आत्म-प्रतिष्ठित हो जाना,

अपने आप पर नियन्त्रण स्थापित कर लेना।

यही समग्र समस्याओ का सुन्दर समाधान है। महावीर ने कहा—"पुरिसा, अत्ताण मेव अभिणिगिज्झ एव दुक्खा पमोक्खसि।"

—पुरुष ! तू अपने आप पर नियन्त्रण स्थापित कर। इस प्रकार तू दु खो से मुक्त हो जाएगा।

इन सवका फलित यह है कि मनुष्य जाति के वौद्धिक विकास और निरकुश वैज्ञानिक प्रगति पर अध्यात्म का नियन्त्रण अनिवार्य है।

एक पाश्चात्य विद्वान ने लिखा है—अध्यात्म-भावना से रहित वौद्धिक-सस्कृति, सभ्य वर्वरता और छद्म-पशुवाद के अतिरिक्त कुछ नही।

इसलिए विज्ञान का यदि कोई सक्षम नियामक तत्त्व है, तो वह है अध्यात्म। अध्यात्म-नियन्त्रित विज्ञान ही विश्व-चेतना को विकास के उस शिखर पर प्रतिष्ठित कर सकता है जहा से अविरल विश्वमैत्री, समता, सहिष्णुता और सौजन्य की धाराए वहती रहती हैं। जिनमे अभिस्नात होकर सम्पूर्ण मनुष्य-जाति एक नये युग का प्रारभ कर सकती है।

१६

धर्म का प्रतिष्ठान

सुप्रसिद्ध लेखक लार्ड मोर्से ने एक स्थान पर लिखा है—"आज तक धर्म की लगभग दस हजार परिभाषाए हो चुकी हैं, फिर भी उनमे सब धर्मों का समावेश नही हो पाया है। जैन, बौद्ध आदि कितने ही धर्म उन व्याख्याओ से बाहर ही रह जाते हैं।" पर चिन्तन की गहराई मे उतरने सेपता चलता है कि उक्त परिभाषाए धर्म की नही, अपितु धर्म सम्प्रदायो की हैं। वस्तुत धर्म और सम्प्रदाय एक नही है, उन्हें एक समझ लेने का ही परिणाम है, कि आज धर्म जैसा स्पष्टतम तथा निर्विवाद विषय भी विवादास्पद बन गया है। और धर्म की सही परिभाषा समझने के लिए अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडता है। क्योकि अधिकाश—धर्म—की परिभाषाए साम्प्रदायिक मान्यताओ को पुष्ट करने के लिए गलत कर दी गयी हैं। सामान्यतया सर्व-धर्म-सम्प्रदायो पर दृष्टिपात करें तो उनमे कही-कही इतनी विविधताओं और विचित्रताओ के दर्शन होते हैं कि कम से कम बौद्धिक व्यक्तियो के अन्त करण में तो धर्म के प्रति अनास्था के भाव उत्पन्न हुए बिना नही रहते।

अनुभव और विवेक के प्रकाश मे, यथार्थ धर्म का अन्वेषण किया जाए तो, विदित होगा कि आत्मा की सहजता, स्वभाव अथवा प्रकृति का नाम ही धर्म है।

जिससे आत्मा के सहज गुणो को तिरोहित करने वाली विकृति की परतें दूर होती हैं, तथा आत्मरूप मे निखार आता है, उस कार्य-प्रणाली

को भी उपचार से धर्म कहा जाता है।

क्योकि नैश्चयिक धर्म तो है—आध्यात्मिक उत्कर्ष, जिसके द्वारा व्यक्ति वहिर्मुखता को त्याग, वासनाओ के पास से उन्मुक्त हो, शुद्ध चिद्रूप या आत्म-स्वरूप की ओर अग्रसर होता है।

यदि ऐसा धर्म सचमुच जीवन मे प्रकट हो रहा हो, तो वाह्य साधन भी, भले ही वे उपवास ध्यान, स्वाध्याय, मौन, उपासना आदि किसी भी प्रकार की क्यो न हो, धर्म की परिधि मे आ सकते हैं, पर यदि वासना से मुक्ति न हो और न ही उसका प्रयत्न हो तो वाह्य साधन कैसे भी क्यो न हो, वे धर्म की कोटि मे कभी नही आ सकते, वल्कि अधर्म ही वन जाते हैं अत धर्म का सही अर्थ है—आध्यात्मिक विकास। फिर उसके लिए चाहे हम कैसी ही भाषा या शब्दो का प्रयोग करें, जैसे कि—दार्शनिको ने गाया —आत्मा की विशुद्धि ही धर्म है। साहित्यकारो ने कहा—जो ज्ञान, आनन्द और शान्ति की उपलब्धि तथा विकास का हेतु है, वह धर्म है। मनोवैज्ञानिको की दृष्टि मे, समता की उपासना तथा उसका उदय ही धर्म है। उक्त परिभाषाओ से धर्म को विविध-रूप मानना भ्रम से परे नहीं होगा। क्योकि ये एक ही धर्म तत्त्व की विभिन्न अवस्थाए है। जैसे कि विना समत्व के आत्म-पवित्रता या विशुद्धि की उपलब्धि नही होती और विना पवित्रता के आनन्द-प्राप्ति की कल्पना का भी कल्पना के अतिरिक्त कोई मूल्य नही रह जाता। निष्कर्ष की भाषा मे, समता से पवित्रता और पवित्रता से आनन्द का उदय होता है। इस दृष्टि से यह मानने मे कोई आपत्ति नही आती कि "समता ही धर्म का मूल है।" मूल मे जल सीचने से ही वृक्ष हरा-भरा रह सकता है। धर्म-पादप की सुरक्षा और विकास के लिए भी, साम्य मूल को सीचना अत्यन्त अपेक्षित है।

पर आज की स्थिति देखते हुए मानना पडता है कि धर्म वृक्ष की टहनियो पत्तो और फूलो को सीचने का जितना ही अधिक प्रयत्न हो रहा है, उतनी ही अधिक मूल के प्रति उपेक्षा वरती जा रही है। समता धर्म का मूल है तो सकल उपासना विधिया उसकी टहनिया, फूल तथा पत्ते है।

हम इस तथ्य को भूल नही सकते कि, आत्मा मे, विना समत्व की ज्योति जगे, केवल वाह्य उपासना, क्रियाकाण्ड, जीवन को हल्का नही,

अपितु और अधिक बोझिल बनाने वाले हैं, सरस नही किन्तु विरस बनाने वाले हैं ।

यह तथ्य भी झुठलाया नही जा सकता कि उपासना मे भी एक गम्भीर तथा महान्तम तत्त्व छिपा हुआ है, वह भी धर्म का एक अग है। यह दूसरी बात है कि किन्ही कारणो मे वह रोगग्रस्त बन गया है, पर अन्तर्विशुद्धि-विहीन कोरी उपसना को कोई भी प्रबुद्ध मानस क्रियाकाण्ड से अधिक महत्त्व नही दे सकता ।

उपासना वह पार्श्वमणि है जो जीवन-रूप लोहे को स्वर्ण बना सकती है, पर तभी कि उस लोहे पर मालिन्य रूप काट न हो। मलिन आत्मा मे धर्म जैसी पवित्रतम वस्तु टिक नही सकती। भगवान् महावीर ने इसीलिए कहा कि "धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई"। विशुद्धि के लिए अपेक्षा है कषाय-मुक्ति की। जो व्यक्ति कषायो से जितना मुक्त है, वह उतने ही अशो मे धार्मिक है। क्रोध, लोभ, दम्भ, गर्व ईर्ष्या, भय, घृणा आदि अधर्म है।

यद्यपि धर्म का रूप इतना विशाल है कि जड शब्दो के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति का प्रयास प्रयास मात्र ही रह जाता है, पर बूद-बूद से परिचित होते हुए हम एक दिन उस अतल सागर की गहराई को भी पा सकते हैं, अत यदि हम थोडे मे समझें तो अभय धर्म है, समता धर्म है, सहिष्णुता और तितिक्षा धर्म है, दूसरो की उन्नति देखकर प्रसन्न होना और सबकी आध्यात्मिक उन्नति की कामना करना धर्म है। मैत्री भावना का विकास करना धर्म है। सरलता और सहजता धर्म है। सन्तोष धर्म है। किसी भी परिस्थिति मे शान्त रहना, क्रोध न करना धर्म है।

ससार मे कौन ऐसा सम्प्रदाय होगा, जो धर्म के इस स्वरूप से सहमत न हो। यहा तक कि धर्म के नाम-मात्र से चिढने वाले, उसे अफीम की गोली और जहर का प्याला कहने वाले कम्युनिस्ट भी ऐसे धर्म से नफरत तो दूर, अपितु उसे आदर की दृष्टि से देखते है।

उपासना-विधि प्रत्येक सम्प्रदाय की विभिन्न हो सकती है जैसे एक वैदिक 'गायत्री' का पाठ करता है, तो जैन नमस्कार महामन्त्र का, एक मुस्लिम कुरान का पाठ करता है तो ईसाई बाइबिल का, पर उल्लिखित तथ्यो मे कोई दो मत नही हो सकते।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि सम्प्रदाय धर्म का प्रतिष्ठान हो सकता है, पर वह स्वय धर्म नही है। धर्म एक है। वह सम्प्रदाय से अतीत है। लेकिन विभिन्न सम्प्रदायो के चश्मे लगाकर देखने से वह हमे विविध रूपो मे प्रतीत होता है। यही कारण है कि हर एक समस्या का सुन्दर समाधान प्रस्तुत करने वाला धर्म स्वय अनगिन समस्यो की जड बन गया।

अत अपेक्षा है उन उपनेत्रो को उतारकर हम यथार्थ का दर्शन करें और अनिर्वचनीय आनन्द व ज्योति का वरण करें।

१७

आचाराग और गीता का अनासक्ति योग

जैन दर्शन मे चेतन और जड—दोनो की सत्ता स्वीकार्य है। उसकी दृष्टि मे चेतन सत्-चित् आनन्दमय और अमूर्त है। जड मूर्त और अमूर्त उभय रूप है। मूर्त-जड-पुद्‌गल कहलाता है। चेतना अपनी हर प्रवृत्ति से प्रतिक्षण पुद्‌गल-परमाणुओ को आकर्षित करती रहती है और स्वय उनकी घनी परतो मे आवृत होती चली जाती है। यही जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा की बद्धावस्था है। यह स्थिति ससारी आत्मा की है। वह पुद्‌गल पराधीन है। इन्द्रिया और मन उसकी प्रवृत्ति के निमित्त हैं। स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और शब्द इन्द्रियो के विषय-ग्राह्य हैं। बहिर्मुखी मन इन्द्रियो को विषयो के प्रति प्रेरित करता है। मनोज्ञ विषयो मे वह अनुरक्त होता है और अमनोज्ञ से विद्विष्ट। इन्ही राग-द्वेष की चचल लहरियो से प्रशान्त चेतना सागर चचल और पकिल हो जाता है। चेतना-शक्ति बुझी-बुझी और आनन्द का स्रोत सूखा-सूखा प्रतीत होने-लगता है। वैसे हर प्रवृत्ति बधन का कारण है, पर राग द्वेप मे श्लेष होता है, अत तदात्मक प्रवृत्ति से होने वाला बधन निविड और दुर्भेद्य होता है।

विषय स्वय मे न अच्छे हैं और न बुरे। अत वे हेय तथा उपादेय भी कुछ नही। हेय है उनके प्रति होने वाली आत्मा की राग-द्वेपमय परिणति।

अध्यात्म-योगी महावीर ने अनुभूति के स्वर मे कहा—

"एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउ मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोव पि कयाइ दुक्ख, न वीयरागस्स करेंति किंचि ॥"[1]

इन्द्रिय और मन के विषय सराग व्यक्ति के दु ख-हेतु हैं। वीतराग को वे कदापि किंचित् भी दु खी नही बना सकते। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि अन्तर् मे छिपी अतृप्त वासना और तीव्र असक्ति ही व्यक्ति को अशान्त बनाती है। इसलिए भारतीय अध्यात्म परम्पराओ ने अनासक्ति की साधना पर बहुत बल दिया, क्योकि आसक्ति आत्मोदय का बाधक तत्त्व है।

जब तक देह है, प्रवृत्ति छूट नही सकती। इस स्थिति मे गीता ने निष्काम-कर्म या अनासक्ति योग का उपदेश देकर अनेक-अनेक साधको का पथ-दर्शन किया। गीता के अनासक्ति योग ने जनमानस को इतना प्रभावित किया, कि उसकी यह धारणा बन गयी कि भारतीय साधना पद्धति मे 'अनासक्ति योग' गीता की देन है और वही विभिन्न सम्प्रदायो मे सक्रान्त हुई है। पर जैनागमो मे आसक्ति की जितनी सूक्ष्म व्याख्या हुई है उससे पता चलता है कि जैन दर्शन केवल साधक को निवृत्ति का पथ ही नही सुझाता, अपितु वह सत्-क्रिया करते हुए अनासक्ति को 'आत्मोदय' का मुख्य अग मानता है। यह अनासक्ति की भावना उसकी गृहीत नही, अपितु जैन-साधना पद्धति का केन्द्र-बिन्दु है।

आचाराग सूत्र मे अनासक्ति की साधना पर जितना बल दिया गया है उससे लगता है, यह ग्रन्थ जैनदर्शन की 'गीता' ही है। आचाराग और गीता मे उभरे हुए अनासक्ति-विषयक समान तथ्य यह प्रकट करते हैं कि एक ही गतव्य तक पहुचाने वाले पथ विभिन्न हो सकते है पर उनकी दिशाए भिन्न नही होती।

प्रस्तुत दोनो ही ग्रथो ने उस विषय-त्याग को महत्त्व नही दिया जहा आसक्ति की लौ प्रज्वलित रहती है।

गीता ने कहा—

"विषयाविनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिन।
रसवर्जं रसोप्यस्य पर दृष्ट्वानिवर्तते ॥"

निराहार रहने से इन्द्रियो के विषय तो छूट जाते हैं, पर उनके प्रति जो रस-आतरिक लगाव है, वह नही छूटता। रस तब छूटता है जब रसातीत-परमतत्त्व-आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। इसी सत्य को भगवान् महावीर ने 'अचाराग' मे बहुत ही सुन्दर अभिव्यक्ति दी है—

"नेत्तेहिं पलिच्छिन्नेहिं, आयाण-सोय गढिए बाले।
अव्वोच्छिन्न बधणे अणभिक्कत सजोए॥"[२]

एक व्यक्ति इन्द्रियो को विषयो की ओर जाने ही नही देता, विपयो से उनका सम्बन्ध काट देता है। जिह्वा को रस चखने ही नही देता। नयनाभिराम दृश्यो के उपस्थित होते ही आखें मूद लेता है। मोहक शब्दो के उभरते ही कानों मे अगुली डाल लेता है। फूलो की महक फूटते ही नाक बन्द कर लेता है, और किसी का स्पर्श तो करता ही नही, उस व्यक्ति की विपयो से नियुक्त इन्द्रिया भी यदि अपरितृप्त हैं, स्व विषयो की प्राप्ति के लिए छटपटाती हैं तो वह व्यक्ति बन्धन-मुक्त नही हो सकता क्योकि उसने वस्तुत सयोगो का अतिक्रमण नही किया है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्रियो को रोक लेना उनकी बहिर्मुखता का समाधान नही। वे दबी हुई वासनाए और अतृप्त भावनाए न जाने कब भयकर ज्वालामुखी का रूप धारण कर लें ? अत आसक्ति के विसर्जन से फलित होने वाला त्याग ही वस्तुत चैतन्य-जागरण का प्रतीक है। सच तो यह है कि आसक्ति छूट जाए तो विपयो को त्यागना नही पडता, वे स्वत छूट जाते हैं।

गीता की भापा मे आसक्ति तब छूटती है, जब हमारी दृष्टि रसातीत परम-चैतन्य मे केन्द्रित हो जाती है। 'रसवर्जं रसोप्यस्य पर दृष्ट्वा निवतते।' और आचाराग की भापा मे आत्म-केन्द्रित वही बन सकता है, जिसके शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श अभिसमन्वागत—सर्वथा ज्ञात तथा प्राप्त हो जाते हैं—'जस्सिमे सद्दा य रुवा य गधा य रसा य फसा अभिसमन्नागया भवति, से आयव।'[३] तात्पर्य की भापा मे जिसकी इन्द्रिया 'पर' से तृप्त हो चुकी है—सुस्वादु भोजन जिसकी रसना को आतुर नही बनाते, सुरम्य दृश्य देखने को जिसकी आखें ललचाती नही, कान सुमधुर सगीत सुनने को आतुर नही रहते, इसी प्रकार कोई भी बाह्य

पदार्थ जिसकी इन्द्रियो को अपनी ओर खीच नही सके, जिसकी इन्द्रिया व मानस समाहित-आत्मलीन बन चुके हैं, वही व्यक्ति आत्मवान् है। यह स्थिति उसी व्यक्ति को प्राप्त हो सकती है जो सर्वथा आत्मकेन्द्रित बन जाता है। कितना साम्य है दोनो ग्रन्थो की भावना मे !

अस्तु, दोनो ही ग्रन्थो के अध्ययन से यह तथ्य अनावृत हो जाता है कि आत्मोपलब्धि या बन्धन-मुक्ति के लिए आसक्ति का विसर्जन अत्यन्त अपेक्षित है। आसक्ति छूट जाने पर इन्द्रियो द्वारा विजातीय तत्त्व का सग्रहण स्वत समाप्त हो जाता और साधक चेतना को आवृत्त करने वाली एक-एक परत को चीरता हुआ आनन्दमय, ज्योतिर्मय, परमसत्ता आत्मा का सतत सान्निध्य प्राप्त कर लेता है।

सन्दर्भ

१ उत्तरज्झयणाणि ३२।१००
२ आयारो ४।४।४५
३ आयारो ३।१।४

१८

हिंसा की प्रेरक शक्ति : आतुरता

आचारांग सूत्र भगवान् महावीर की अध्यात्म-अनुभूतियों से भरा-पूरा वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अनेक समस्याओं का स्थायी समाधान देने वाला, अपनी कोटि का अप्रतिम ग्रन्थ है। उसमें महावीर के अहिंसा-दर्शन की अनेक महत्त्वपूर्ण और व्यापक दृष्टियां उपलब्ध होती हैं।

हिंसा ने आज विश्व को सर्वनाश के उस कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है कि समय रहते यदि अहिंसा की प्रबल शक्ति का प्रयोग नहीं हुआ तो इस बर्बरता और पैशाचिकता की धधकती लपटों में मानव सभ्यता व संस्कृति को झुलसने से बचाने वाला कोई नहीं है।

हिंसा का उद्गम है व्यक्ति की अन्तर्वृत्तियां और बाह्य-जगत् को भुगतना पड़ता है उसका दु:सह परिणाम।

व्यक्ति की मनोवृत्ति को हिंसा के प्रति उभारने के अनेक निमित्त हैं, उनमें एक है आतुरता।

भगवान् महावीर ने कहा—"तत्थ तत्थ पुढो पास, आतुरा परितावेंति"—तू देख, आतुर मनुष्य स्थान-स्थान पर हिंसा करते हैं। आतुर शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, जैसे—आसक्त, लिप्सु, आकुल, व्याकुल त्वरायमाण और बीमार।

अतः हिंसा का कारण एक शब्द में है—आतुरता। आसक्ति, लिप्सा, आकुलता, त्वरता और बीमारी उसी के रूप हैं।

आतुरता हिंसा का प्रबल कारण है। हर व्यक्ति को भूख लगती है, प्यास लगती है, पर केवल भूख और प्यास उसे सताती नही। वह सताती तब है, जबकि वह बुभुक्षातुर और पिपासातुर बन जाता है। उस आतुरता से ही जैसे-तैसे वह भूख और प्यास का निवारण करता है।

काम, क्रोध आदि वृत्तिया मनोविज्ञान की भाषा मे प्राणी की मूल प्रवृत्तिया हैं। जो व्यक्ति इन वृत्तियो पर नियन्त्रण करना जानता है, वह सामान्यत अपना व पराया अहित नही कर सकता। वह अहित तब कर बैठता है, जबकि कामातुर और क्रोधातुर बन जाता है। उस स्थिति मे उसका विवेक लुप्त हो जाता है। चिन्तन दब जाता है। प्रतिभा निस्तेज हो जाती है।

जन-साधारण की दृष्टि यह है कि गरीबी या अभावजन्य परिस्थितिया व्यक्ति को अकृत्य की ओर प्रेरित करती हैं। पर महावीर की दृष्टि मे हिंसा का मूल परिस्थितिया नही, मानव की मनोवृत्तिया हैं। यही कारण है कि आर्थिक पर्याप्तता और साधनो की प्रचुरता मे भी व्यक्ति अपनी अतृप्त आकाक्षाओ के वशीभूत होकर हिंसा की ओर अग्रसर हो जाता है।

"अट्टावि सता अदुवा पमत्ता"

आर्त-अभाव से पीडित और प्रमत्त-अतिभाव से उन्मत्त, ये दोनो ही प्रकार के व्यक्ति हिंसक बन सकते हैं।

अमेरिका आदि सम्पन्न देशो मे मानसिक असन्तुलन, विक्षिप्तता आदि अतिभाव जन्य उन्मत्तता की ही तो प्रतिक्रियाए हैं।

लिप्सा

आज के अन्तर्राष्ट्रीय सकट की जनयित्री है लिप्सा। साम्राज्यवाद की लिप्सा से ही एक देश दूसरे देश पर हस्तक्षेप और आक्रमण करता है, अन्यथा हर राष्ट्र अपनी-अपनी सीमा और स्थिति मे निर्भय और सन्तुष्ट रहता।

आकुलता और त्वरता

बहुत सारी हिंसाए मानसिक व्याकुलता-विक्षिप्तता से भी हो जाती

है। अत्यधिक जल्दवाजी मे व्यक्ति न चाहने पर भी हिंसक वन जाता है।

त्वरता

जल्दवाजी भी मानसिक व्याकुलता और विक्षिप्तता का ही परिणाम है। राजस्थानी भाषा मे भी प्रयोग होता है—"उतावलो सो वावलो"। विक्षिप्तता को मिटाने के लिए मानसिक स्थिरता या एकाग्रता अपेक्षित है। वह ध्यान, आसन आदि यौगिक प्रक्रियाओ से प्राप्त हो सकती है।

बीमारी

संस्कृत शब्दकोश मे रोगी का एक नाम आतुर है। रोगी केवल शारीरिक ही नही होते, मानसिक और आध्यात्मिक भी होते हैं। वल्कि आज के मानस शास्त्रियो तथा होम्योपैथिक चिकित्सा विधि ने तो यह सिद्ध भी कर दिया है कि शारीरिक रोग भी ९०% मानसिक और आध्यात्मिक दुर्वलताओ की ही उपज है। प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थो मे भी अमुक-अमुक दूषित मनोवृत्तियो से अमुक-अमुक रोगो की उत्पत्ति का उल्लेख है। अत रोगी वस्तुत वह होता है जो अपनी वासनाओ, लिप्साओ, आवेगो और सवेगो पर नियन्त्रण करना नही जानता या जो अपनी ही दुर्वलताओ से पराजित हो जाता है। स्वस्थ की समग्र परिभाषा देते हुए प्राचीन आचार्यों ने लिखा है—

"समदोष समाग्निश्च, समधातुमलक्रिय ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना , स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥"

जिसके त्रिदोष—वात, पित्त और कफ, जठराग्नि सप्तधातु का निर्माण और मलोत्सर्ग सम मात्रा मे हो तथा जिसकी आत्मा, इन्द्रिया और मन प्रसन्न हो, वह व्यक्ति स्वस्थ है। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध मे शारीरिक स्वास्थ्य और उत्तरार्द्ध मे आन्तरिक स्वास्थ्य के लक्षण उल्लिखित हैं।

प्रसन्नता और अप्रसन्नता मनोज्ञ वस्तु की प्राप्ति और अप्राप्ति से होने वाली हर्ष और विषादपूर्ण मन स्थिति नही, अपितु इन दोनो स्थितियो से अतीत—समता की अवस्था प्रसन्नता और विषमता की अवस्था अप्रसन्नता है। इस दृष्टि से जिस व्यक्ति की आत्मा, इन्द्रिया

और मन प्रसन्न हैं, समाहित हैं, वहिर्गामी नही अपितु अन्तर्गामी हैं, वह व्यक्ति वस्तुत स्वस्थ है। इन्द्रिय, मन और आत्मा की इस प्रोन्नत भूमिका तक पहुच जाने पर व्यक्ति हिंसा की ओर आकर्पित नही हो सकता, भले ही वह किसी भी अवस्था में क्यो न हो ?

जिस व्यक्ति की इन्द्रिया, मन और आत्मा वहिर्गामी हैं, वह व्यक्ति उतना ही अस्वस्थ है, और जितना अस्वस्थ है, उतना ही हिंसक है। और, वे जितने-जितने अन्तर्मुखी वनते हैं, व्यक्ति उतना-उतना स्वस्थ होता चला जाता है। वह जितना स्वस्थ है, उतना ही अहिंसक है। इस दृष्टि से आसक्ति, लिप्सा, विक्षिप्तता और त्वरा—ये सव मानसिक और आत्मिक व्याधिया हैं और हिंसा के निमित्त हैं।

वस्तुत इन्द्रियो की वाह्य के प्रति दौड-धूप मन को व्यग्र वनाती है, और व्यग्रता आत्मा को मलिन। तव व्यक्ति वाह्य की प्राप्ति के लिए हिंसा का खुलकर प्रयोग करता है। वह हिंसा मे इतना आसक्त वन जाता है कि उसके उपरत होने की कल्पना भी नही कर सकता।

अस्तु, अहिंसा की साधना के लिए तथा हिंसा की संहारक शक्ति को उपहृत करने के लिए आवश्यक है आतुरता का विसर्जन, भले ही वह लिप्सा, व्याकुलता, अस्वास्थ्य आदि किसी भी रूप मे क्यो न हो ?· · पर है वाह्य के प्रति तीव्र आसक्ति का परिणाम। अत आतुरता के विसर्जन के लिए अनासक्ति की साधना अत्यन्त अपेक्षित है।

१६

महावीर की संघ-व्यवस्था : प्रारूप और विकास

धर्म वैयक्तिक तत्त्व है क्योकि उसकी साधना व्यक्तिगत हाती है। लेकिन उससे जब समूह-चेतना प्रभावित होती है तो वह सामुदायिक बन जाता है।

भगवान् श्री महावीर ने साढे बारह वर्ष तक अहिंसा और समता की साधना की। साधनाकाल मे वे अकेले रहे। विजन मे रहे। उनकी साधना फली। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हुए।

उन्होंने अनुभूति के स्वर मे अहिंसा, समता, सयम और सह-अस्तित्व का प्रतिपादन किया। आध्यात्मिक और सामाजिक स्तर पर उनकी मूल्य प्रतिष्ठा की। उनके उद्‌बोधन से लोक-चेतना प्रभावित हुई। वैदिक परम्परा की यज्ञ सस्था के सुदृढ आधार स्तम्भ वेद-वेदागो के धुरीण विद्वान् इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह ब्राह्मण पडित अपनी-अपनी टोलियो के साथ भगवान् के शिष्य बन गए। राजकुमारी चन्दना हजारो कन्याओ और महिलाओ के साथ भगवान् की शरण मे आयी। हजारो पुरुष और महिलाए उपासक धर्म मे दीक्षित हुए। पहले ही दिन हजारो साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविकाओ का सघ बन गया। आगे चलकर यह सख्या लाखो तक पहुच गयी। उक्त चतुर्विध-सघ तीर्थ कहलाया और भगवान् उसके सस्थापक-तीर्थंकर कहलाए।

एक विशाल धार्मिक सगठन का जन्म हुआ। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से अध्यात्म-साधना का सघीयकरण भगवान् पार्श्व के समय से से ही हो चुका था, फिर भी भगवान् महावीर ने युगीन अपेक्षाओ के परिवेश मे उसका जिस पद्धति से पल्लवन किया वह धार्मिक सगठन की दृष्टि से अप्रतिम कहा जा सकता है।

उन्होने अपने धर्मसघ को आत्मानुशासन की भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। उन्होने कहा—"कुमले पुण नो वद्धे नो मुक्के"—प्राज्ञ व्यक्ति को वाहरी वन्धनो से जकडने की अपेक्षा नही होती, क्योकि वह आत्मानुशासन से मुक्त नही होता।

किन्तु जहा समाज होता है, वहा सबके सस्कार, रुचि और अपेक्षाए समान नही होती एव अनुशासन भी सवका समान विकसित नही होता। अत धार्मिक सगठन मे भी व्यवस्थाओ और सचालन की प्रविधियो का निर्धारण अपेक्षित समझा गया।

भगवान् महावीर व्यक्ति-स्वातत्र्य के उद्गाता थे और साथ ही सामुदायिक मूल्यो के सस्थापक भी। उन्होने अपने सघ मे आत्म-नियन्त्रण, अनुशासन और व्यवस्था—इन तीनो को समान महत्त्व दिया, जिससे न व्यक्ति की स्वतत्र-चेतना कुण्ठित हो और न सामुदायिक मूल्यो का लोप।

प्रश्न उठता है—महावीर की सघीय व्यवस्था क्या थी और वह किस तन्त्र से सचालित थी ?

महावीर गणतन्त्र के वातावरण मे पले-पुसे थे, वर्तमान मे वे अहिसा की परिपूर्णता मे जी रहे थे। अत अर्थ और सत्ता का केन्द्रीकरण उनकी दृष्टि मे सामाजिक अपराध और उनके समतावादी दर्शन के विपरीत था। नेतृत्व के केन्द्रीकरण मे भी उनका विश्वास नही था। अत अपने समूचे श्रमण-सघ को उन्होने नौ गणो (विभागो) मे विभक्त कर उसकी व्यवस्था को विकेन्द्रित कर दिया। अपने प्रथम शिष्य इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान् ब्राह्मण मुनियो को गणधर पद पर नियुक्त कर सघ का नेतृत्व उनको सौंप दिया। विशाल श्रमणी सघ का दायित्व उन्होने अपनी प्रथम शिष्या महासती चन्दनबाला को सौंपा।

उनके सक्षम नेतृत्व मे श्रमण-श्रमणी सघ उत्तरोत्तर विकास पाता

रहा और भगवान् महावीर के समय मे ही वह विभिन्न धर्मसघो मे सर्वोपरि माना जाने लगा।

जहा अन्य सुविशाल धर्म-सघ उदय के पश्चात् कुछ ही समय में अस्तगत हो गए, वहा जैन श्रमण-सघ की धारा नाना अवरोहो-आरोहो को पार करती हुई सहस्त्राब्दियो के पश्चात् भी अक्षुण्ण बनी रही। यह श्रेय उनकी सगठन-प्रियता और अद्भुत व्यवस्थाओ को ही है।

वस्तुत जैन-सघ का सक्षम नेतृत्व, सुगठित एव सर्वांग परिपूर्ण सविधान, अनुशासन, सघ—सचालन की प्रविधिया और व्यवस्थाए अपने युग की अप्रतिम उपलब्धि थी। इसी के आधार पर अनगिन प्रतिकूलताओ मे भी जैन धर्म सुदूर अचलो तक पहुचा, फला-फूला और लोक-जीवन को वर्षों तक प्रभावित करता रहा।

जब जैन श्रमण सघ के नेतृत्व और व्यवस्थाओ के सम्बन्ध मे जानकारी करने का प्रयास करते हैं तो उसके परिपेक्ष्य मे नाना प्रश्न उभर आते हैं चिन्तन के दर्पण मे, जैसे कि—

१ भगवान् महावीर् की सघीय व्यवस्था का प्रारूप क्या था ?
२ व्यवस्थाओ के सचालक स्वय गणधर ही होते थे अथवा अन्य आचार्यादि ?
३ श्रमण-सघ के नेतृत्व की दिशाए महावीर की वर्तमानता मे ही विकसित हो चुकी थी अथवा उनका कोई क्रमिक इतिहास है ?
४ जैन परम्परा मे जो सचालन वर्ग के सात पदो का उल्लेख है, वह महावीरकालीन है या उत्तरकालीन ?
५ सातो पदो के कार्यक्षेत्र क्या थे ?
६ क्या श्रमण-सघ मे सातो पदों की नियुक्तिया अनिवार्य थी ?
७ क्या वर्तमान में भी पद-परम्परा सुरक्षित है ?

प्रस्तुत प्रबन्ध मे इन्ही प्रश्नो को समाहित करने का प्रयास किया गया है। इनका समाधान हमे आगम साहित्य और उनके व्याख्या ग्रन्थों के आलोक मे बहुत-ही स्पष्टता के साथ उपलब्ध हो सकता है।

प्रारूप

धर्मसघ के सदस्यो के वर्गीकरण के मुख्य आधार रहे हैं साधना और व्यवस्था।

साधना के दो अग हैं—चारित्राराधना और ज्ञानाराधना। चरित्र की विशिष्ट आराधना और उपलब्धि की दृष्टि से जैन वाड्मय मे तीर्थंकर, अर्हंत केवली तथा अन्य लब्धिधर मुनियो का उल्लेख है। ज्ञानाराधना की दृष्टि से अवधिज्ञानी, मन पर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, एकादशागधारी आदि श्रमणो का उल्लेख है। महावीर के युग मे इन सवका वहुत वडा समूह था।

सगठन का मुख्य आधार है व्यवस्था। उसके सम्यक् सचालन के लिए भगवान् के समय मे एक ही पद निश्चित था—गणधर पद, उस पर भगवान् ने अपने ग्यारह प्रमुख शिष्यो को नियुक्त किया। कल्पसूत्र (जिसमे भगवान् का जीवनवृत्त गुम्फित है) मे भगवान् की शिष्य-सम्पदा का पूरा विवरण प्राप्त है। वहा व्यवस्था की दृष्टि से गणधर पद के अतिरिक्त कोई पद उल्लिखित नही है। व्यवस्था की दृष्टि से मात्र इतनी ही जानकारी मिलती है कि भगवान् के शासन मे श्रमणो के नौ गण थे, ग्यारह गणधर थे। अन्तिम दो गणो का दो-दो गणधर सयुक्त नेतृत्व करते थे। गौतम के अतिरिक्त नौ गणधरो ने भगवान् की विद्यमानता मे ही अपने-अपने गण सुधर्मा को समर्पित कर दिए थे।[1]

अत स्पष्ट है उस समय तक 'गणधर' के अतिरिक्त किसी पद-मर्यादा का सूत्रपात नही हुआ था। साध्वी-सघ के नेतृत्व के लिए प्रवर्तिनी पद की परिकल्पना भी आगमिक आधार पर नही होती। हा, नेतृत्व-भार अवश्य चन्दना को सौंपा गया था। पर उसके लिए आर्या चन्दना के अतिरिक्त किसी भी उपाधिसूचक शब्द का प्रयोग कही भी नही हुआ है।

अत भगवान् के समय मे सघ-सचालन के सूत्रधार तो गणधर ही थे, पर कार्य-सौकर्य की दृष्टि से अन्य श्रमणो को भी विभिन्न विभाग सौंपे हो, तो भी असम्भव नही लगता, पर उस कार्य-प्रणाली का कोई व्यवस्थित क्रम उपलब्ध नही होता।

अग साहित्य मे आचार्य और उपाध्याय इन दो पदो की ससूचा अवश्य उपलब्ध होती है।[१] श्रुत परम्परा को अविच्छिन्न रखने के लिए उनकी सेवाए बहुमूल्य समझी जाती थीं और उनकी उपस्थिति अनिवार्य। वे गण के अन्यान्यदायित्वो से मुक्त रहते थे। उनका कार्यक्षेत्र आगम-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन तक ही सीमित था।

जैन परम्परा मे आचार्य और उपाध्याय का स्थान सर्वोपरि रहा है। परम्परा एक प्रवाह है। उसका उत्स है सूत्र। सूत्र की आत्मा है—अर्थ। अर्थ और सूत्र के अधिकारी आचार्य और उपाध्याय होते थे।[१] वैदिक परम्परा मे भी अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से आचार्य और उपाध्याय पदो की प्रतिष्ठा थी।[४]

स्थानाग समवायाग उत्तराध्ययन, दशवैकालिक औपपातिक आदि ग्रन्थो मे आचार्य-उपाध्याय की गौरव गाथाए प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हैं।

वैदिक परम्परा मे भी महाभारत, प्रश्नोपनिषद्, धर्मसूत्र आदि ग्रन्थ आचार्य की महिमा स्वीकार करते हैं।

महावीर के युग मे आचार्य-उपाध्याय की विधिवत् नियुक्ति होती थी या नही, पर अध्ययन और अध्यापन की दृष्टि से उनका अस्तित्व उभर चुका था, क्योकि अपने-अपने गणो के हजारो श्रमण-श्रमणियो को अकेले एक एक गणधर वाचना देते हो, यह सम्भव नही लगता।

भगवान् के निर्माणोत्तर काल मे जब श्रमण सघ विस्तार पाने लगा, धर्माचार्यों का झुकाव लोक-सग्रह की ओर हुआ, कार्यक्षेत्र और सघीय प्रवृत्तिया बढने लगी, तब आचार्य-उपाध्यायो को उन प्रवृत्तियो मे सलग्न होना पडा। फलत आगम परम्परा मे शैथिल्य की सभावना प्रतीत होने लगी। इस दृष्टि से आचार्यों का कार्यक्षेत्र विभक्त हुआ। कुछ आचार्य श्रुतवाचना का दायित्व निभाते, कुछ गण की सार-सभाल का और कुछ धर्म-प्रचार और धर्मोपदेश का।[५] आचार्य पट्टावली गत वाचक वश और गणधर वश की परम्परा इसका पुष्ट प्रमाण है।

इन विविध अपेक्षाओ को दृष्टिगत रखते हुए सघ की सुव्यवस्था के लिए नेतृत्व के क्षेत्र मे परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ। विभिन्न व्यवस्थाओ के सचालन के लिए आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर,

गणी, गणधर, गणावच्छेदक—इन सात पदो का निर्धारण हुआ। इनका उल्लेख छेद सूत्रो मे मिलता है, जिनके रचयिता हैं—चतुर्दशपूर्वी आचार्य भद्रबाहु। उनका समय था वीर निर्वाण की दूसरी सदी। अत यह निश्चित है, उस समय तक उक्त व्यवस्थाओ का पल्लवन हो चुका था।

उक्त सातो पदो और पदाधिकारियो के कार्य-विभाजन और क्षमताओ का उल्लेख छेद-सूत्रो तथा उनके व्याख्या ग्रन्थो-निर्युक्तियो, भाष्यो, चूर्णियो और टीकाओ मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है। वह सक्षेप मे इस प्रकार है—

आचार्य

आचार्य सूत्र, अर्थ और तदुभय-वेत्ता, लक्षण-सम्पन्न, गण की समग्र प्रवृत्तियो के केन्द्रभूत होते थे। वे शिष्यो को मात्र अर्थ की वाचना देते थे तथा गण की अन्यान्य चिन्ताओ से मुक्त रहते थे।[१] इसका हेतु यह दिया गया है कि आचार्य तीर्थंकर की प्रतिकृति होते हैं, तीर्थंकर अर्थ का प्ररूपण करते हैं और सघ व्यवस्था सम्बन्धी चिन्ता नहीं करते। वैसे ही आचार्य भी अर्थ की वाचना देते हैं और गणतप्ति से मुक्त रहते हैं।[२]

उत्तरवर्ती-काल मे आचार्य के दायित्व बहुत कुछ परिवर्तित हो गये।

उपाध्याय

श्रमणो को सूत्र की वाचना देते थे। उन्हे श्रुत-सम्पन्न बनाते थे।

प्रवर्तक

प्रवर्तक श्रमणो को उनकी रुचि और क्षमता के अनुसार साधना के विभिन्न क्षेत्रो मे नियोजित करते थे।

स्थविर

प्रवर्तक द्वारा नियोजित कार्य मे यदि कोई श्रमण निरुत्साहित होता है तो स्थविर उसे पुन प्रेरित और लक्ष्य मे स्थिर करते थे।

गणी

गणी आचार्यों को श्रुत का अध्ययन कराने के लिए नियुक्त विशिष्ट श्रमण होते थे। मुनिश्री नथमल ने छोटे-छोटे श्रमण-समूहो के नेतृत्व करना गणी क कार्य माना है।[6] स्थानागवृत्ति[7] में भी गणी का यही अर्थ सम्मत है पर कल्पसूत्र वृत्ति के अनुसार यह कार्य गणावच्छेदक का था।

गणधर

गणधर का सामान्य अर्थ होता है गण को धारण करने वाला—आचार्य। तीर्थंकरो के प्रमुख शिष्यो के अर्थ में यह शब्द मुख्यत प्रयुक्त हुआ है। पर पद व्यवस्था क्रम मे इसका अर्थ होता है—श्रमणो की दिनचर्या का ध्यान रखने वाला विशिष्ट श्रमण। स्थानाग-वृत्ति मे इसका अर्थ किया गया है—आर्या प्रति जागरूक, अर्थात् साध्वियो को प्रति-जागृत करने वाले। लेकिन इस मान्यता का आधार क्या रहा है, यह चिन्तनीय है। क्योकि छेद सूत्रों के अनुसार श्रमणी समूह का दायित्व प्रवर्तिनी पर होता है। प्रवर्तिनी का साध्वी-समाज में वही स्थान था जो श्रमणसघ मे प्रवर्तक का होता था। उत्तरवर्ती काल मे भी प्रवर्तिनी—स्थविरा, महत्तरा आदि की परम्परा का उल्लेख मिलता है। पर साध्वियो की व्यवस्था के लिए किसी वरिष्ठ श्रमण की अतिरिक्त नियुक्ति होती थी—ऐसा उल्लेख तो अन्यत्र नहीं मिलता।

गणावच्छेदक

सघ की आन्तरिक व्यवस्थाओ का दायित्व मुख्यतया गणावच्छेदक पर होता था। वे सेवाभावी और गणवत्सल होते थे। गण की हर अपेक्षा का ध्यान रखना, उसको पूरा करना तथा आचार्य के विहार क्षेत्र का परिप्रेक्षण करने के लिए सघ के आगे-आगे कुछ श्रमणो के साथ चलना इनका मुख्य कार्य था।[8]

यह पद-व्यवस्था जैन सघ की अपनी मौलिक सूझ है। इसका विकास एक साथ नही अपितु कालक्रम से हुआ था। आचार्य भद्रबाहु तक यह

व्यवस्था पूर्णत प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इन पदो की कोई चुनाव प्रणाली नही थी, अपितु आचार्य यथावश्यक इनका स्वय मनोनयन और नियोजन करते थे।

सातो ही पदो की नियुक्तिया अनिवार्य नही थी। एक आचार्य के लिए भावी आचार्य की नियुक्ति अनिवार्य थी। शेष पदो की नियुक्तिया आचार्य की इच्छा पर निर्भर थी। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से आचार्य यदि चाहते तो सातो पदो का कार्य-भार स्वय सम्भालते, चाहते तो कुछ का स्वय सम्भालते और कुछ पर अधिकारी वर्ग को नियुक्त करते तथा चाहते तो सातो पदो की नियुक्तिया भी करते।

छेद-सूत्रो मे जहा श्रमण-सघ की व्यवस्था और व्यवस्थापको का विस्तृत वर्णन मिलता है, वहा सातो पदो का एक साथ वर्णन तो यत्र कुत्रचित् ही मिलता है, अधिकतर पाच, तीन और दो का ही उल्लेख आता है, जिनका नेतृत्व साधु-साध्वियो को अनिवार्यत स्वीकार करना होता था। साधु के लिए आचार्य और उपाध्याय के नेतृत्व की अनिवार्यता थी और साध्वी के लिए आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी के नेतृत्व की।[११] उनके अभाव मे यह भी विधान था कि वे किसी भी योग्य श्रमण के नेतृत्व मे रह सकते हैं। जहा सातो पदो का एकत्र उल्लेख है, वहा भी उनमे से किसी एक के आदेश-निर्देश के स्वीकरण का विकल्प है।[१२]

पद-सख्या की न्यूनाधिकता का एक कारण यह भी हो सकता है कि अनेक बार एक ही व्यक्ति अनेक पदो के दायित्व का निर्वहन करता था। जैसे उत्तराध्ययन मे आचार्य गार्ग के विषय मे लिखा गया है—

"थेरे गणहरे गग्गे, मुणी आसी विसारए।"

आइण्णे गणि-भावम्मि, समाहिं पडिसधए॥" आगे लिखा है—"आयरियाण तुवयण।"

इससे पता चलता है, गर्ग एक गीतार्थ मुनि थे। कालान्तर मे वे आचार्य बने और स्थविर, गणी तथा गणधर—इन तीनो का कार्यभार स्वय सम्भाले हुए थे। कही-कही आचार्य के स्थान पर गणी और गणावच्छेदक शब्द का प्रयोग भी हुआ है। भाष्य तथा चूर्णियो मे जहा एकत्र कई पदो का उल्लेख है वहा गणी और गणधर का उल्लेख बहुत ही

कम हुआ है। इससे लगता है इन पदो का दायित्व अधिकतर आचार्य या गणावच्छेदक ही सभाल लेते थे।

जैन श्रमण सघ के विस्तार, स्थिरीकरण और अभ्युदय की दृष्टि से यह पद-व्यवस्था बहुत ही मूल्यवान सिद्ध हुई। वीर निर्वाण की एक सहस्राब्दि तक यह परम्परा लगभग व्यवस्थित रूप से चलती रही। कालान्तर में यह स्वस्थ परम्परा भी अनेक दोषो से आक्रान्त हो गयी। फलत सातो पदो के अधिकार और मर्यादाए बहुत कुछ सिमट गयी या एकमात्र आचार्य-केन्द्रित हो गयीं।

वर्तमान मे जैन परम्परा के किसी भी सम्प्रदाय मे पद-व्यवस्था का व्यवस्थित क्रम उपलब्ध नही होता। दिगम्बर, श्वेताम्बर, मूर्तिपूजक तथा स्थानकवासी परम्परा मे आचार्य के अतिरिक्त उपाध्याय, गणी, प्रवर्तक आदि पदो के अधिकारो का यदा-कदा उपयोग होता है। तेरापथ सघ के उदय-काल से अब तक आगमोक्त सातो पदो के अधिकार और दायित्व एकमात्र आचार्य-केन्द्रित ही रहे हैं। युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी ने तेरापथ सघ मे निकाय व्यवस्था का अस्थायी प्रयोग किया था, लेकिन उसे स्थायी मान्यता प्रदान नही की।

यह है भगवान् महावीर की सघीय व्यवस्था के प्रारूप और विकास की सक्षिप्त कहानी।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१ कल्पसूत्र २०१
२ स्थानाग ३-३
३ ओघ निर्युक्ति—ओघ निर्युक्ति की वृत्ति अत्थइ वाए आयरियो, सुत्त वाए इ उवज्झाओ। सूत्रप्रदा उपाध्याया, अर्थप्रदा आचार्या।
४ बृहद् गौतम स्मृति १४-५९-६०
५ स्थानाग ४।३ ४२२-४२३
६ भगवती सूत्रवृत्ति, आवश्यक निर्युक्ति गाथा १२०९ की अवचूर्णी।
७ आवश्यक निर्युक्ति गाथा १२०९ की अवचूर्णि।
८ जैन दर्शन मनन और मीमासा।

९ स्थानांग वृत्ति, पृ० २३२।
१०. आवश्यक निर्युक्ति, स्थानांगवृत्ति, व्यवहार भाष्य, कल्पसूत्र वृत्ति टिप्पण आदि।
११ व्यवहार सूत्र भाष्य।
१२ बृहद्कल्प।

२०

जैन आचार-शास्त्र (१)

फटे-पुराने चिथडो मे सिमटा एक दुवला-पतला भिखारी भीख माग-मागकर पेट की आग बुझा रहा था। उसका अन्तर् चीख रहा था। दैन्य की आग सुलगती जा रही थी। उसे बुझाने के लिए कही से सहानुभूति के दो शब्द भी उसे नही मिल रहे थे। अचानक एक नैमित्तिक ने टोका—तुम्हारे जैसा प्रचुर ऐश्वर्य का स्वामी घर-घर भीख मागता फिरे ? नही-नही ! यह विलकुल अनुचित है।

भिखारी सहमा। फटी-फटी आखो से देखता ही रहा। वह समझ नही पा रहा था इस रहस्य को।

ज्योतिषी ने वताया, तुम्हारे घर मे एक निधान गडा हुआ है। तुम उससे अनजान हो, इसीलिए भिखारी वने वैठे हो। अन्यथा तुम तो अपार विभूति के स्वामी हो।

भिखारी अद्भुत कुतूहल लिये घर गया। भूमि की खुदाई की। निधान पाना इतना आसान नही था। खोदते-खोदते सास फूलने लगी, दम टूटने लगा, पसीने मे तर-वतर, थकान से चूर-चूर। फिर भी श्रम नही छोडा। चार-चार वज्रमयी दुर्भेद्य शिलाओ को खण्ड-खण्ड कर, वह गहरा उतरता गया। पुरुपार्थ फलित हुआ। उसका सोया भाग्य जाग उठा। उसके सामने ढेर सारे हीरे, पन्ने, मणि, मुक्ता आदि जवाहरात जगमगा रहे थे। स्वर्ण, रजत आदि की शिलाए उसका आश्चर्य वढा रही थी।

ज्योतिषी के दिशा-वोध और उसके पुरुपार्थ ने एक भिखारी को

धन-कुबेर बना दिया। अपार सम्पदा उसके चरणो मे लोटने लगी।

प्रत्येक आत्मा ज्ञान, आनन्द और शक्ति का अक्षय भण्डार है। वह कर्मों की सघन शिलाओ से आच्छादित है, अत व्यक्ति उससे अनजान ही रहता है। जब उसे अपने ही अन्दर छिपे इस निधान का पता चलता है, उसे पाने को वह आतुर और बेचैन हो उठता है। विशिष्ट साधना से उस 'निधान' का अनावृत्तीकरण करता है। मानव की इस तीव्र अभीप्सा ने अनेक-अनेक साधना-विधियो को जन्म दिया। आत्म-रूप का अनावृत्तीकरण अथवा चैतन्य-जागरण की प्रक्रिया का नाम ही आचार है जिसे शास्त्रीय-भाषा मे सम्यक् आचरण कहा जाता है।

आचारशास्त्र का आधार

प्रत्येक आचार-पद्धति स्वतन्त्र दार्शनिक मन्तव्यो पर आधारित होती है। आधार-शून्य प्रवृत्ति मूल्यहीन होती है। प्रत्येक साधना-पद्धति का उत्स आत्मा है। वे आत्मा को केन्द्र मानकर ही पल्लवित और पुष्पित हुई हैं।

विश्व के सभी धर्मों का तत्त्व-चिन्तन आत्मा का दर्शन है। विश्व के प्रबुद्धचेता मनीषियो ने आत्मा के सूक्ष्म विश्लेपण मे प्रचुर साहित्य का सृजन किया है। भारतीय तत्त्वज्ञो का तो यह अत्यन्त ही प्रिय तथा प्रमुख विषय रहा है। भारत के सभी आस्तिक दर्शन, अन्यान्य मतभेद होते हुए भी, आत्मा के अस्तित्व के विषय मे एकमत और एक-स्वर हैं। वैदिक ऋषियो ने गाया—"आत्मान विद्धि"—आत्मा को जानो। भगवान् महावीर ने उद्घोष किया—"अत्ताण मेव समभिजाणाहि"—अपने आपको जानो, परखो और पहचानो। "जे एण जाणइ, से सव्व जाणइ" —आत्मा को जानने वाला सब कुछ जान लेता है।

आत्म-अस्तित्व की इस गूज ने श्रेय-सिद्धि मे लीन अनेक-अनेक जिज्ञासुओ को आत्मनिरीक्षण, परीक्षण और विश्लेपण की ओर मोडा। इस क्रिया से उन्होने पाया कि सभी आत्माए एक-रूप नही हैं। कोई प्रबुद्ध है तो कोई प्रमत्त, कोई आसक्त है तो कोई अनासक्त, कोई निष्ठुर है तो कोई कोमल, कोई निश्छल है तो कोई कुटिल, कोई स्वल्प पाकर भी

सन्तुष्ट हो जाता है तो किसी का मन बहुत कुछ पाकर भी नही भरता। कोई प्रशान्त है तो कोई अशान्त, कोई गम्भीर है तो कोई अधीर, कोई संकीर्ण है तो कोई उदार, कोई ज्ञानी है तो कोई अज्ञानी—यह क्यो ? अस्तित्व की अपेक्षा से समान इन आत्माओ की विरूपता और विविधता का कारण क्या है ?

भारतीय मनीषियो ने कहा—आत्मा की यह विविधता स्वत नही, विभाव सापेक्ष है। आत्मा स्वय शुद्ध-बुद्ध, चैतन्यमय, आनन्दमय और सर्वशक्तिमान है। वह एक प्रशान्त सागर है। बाह्य निमित्त पाकर उसमे स्वार्थ, अह, क्रोध, घृणा, वासना आदि की उर्मिया उठने लगती हैं। वह आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है।

जैन दर्शन के अनुसार इसका कारण है कर्म। वे पुद्गल-परमाणु हैं, जो आत्मा की ही अच्छी या बुरी प्रवृत्ति से आकृष्ट होते हैं, संश्लिष्ट होते हैं, आत्मा को आवृत्त करते हैं, उसकी चेतना-शक्ति को तिरोहित करते हैं और अपने परिपाक के समय आत्मा को अच्छे या बुरे फल देते हैं। वे किसी ईश्वरीय सत्ता से प्रेरित नही होते, स्वकृत होते हैं। व्यक्ति स्वय ही कर्म का कर्त्ता और स्वय ही उसका भोक्ता है। कर्म की वह परिणति ही आत्मा की विविधता का हेतु है।

कर्म-बन्ध भी स्वतन्त्र नही, क्रिया-सापेक्ष है। व्यक्ति-व्यक्ति मे क्रियाओ का साम्य सभव नही। सुख-दु ख की अनुभूतिया, रुचिया, मनोदशाए, भावनाए और आकाक्षाए सबकी अपनी-अपनी होती हैं। ये ही व्यक्ति की क्रियाओ की पृथक्ता का कारण बनती हैं। व्यक्ति की जैसी क्रिया होगी, वैसे ही कर्म होंगे। जैसे कर्म होगे, वैसा ही उनका फल होगा। कर्म-फल से बचाव के लिए कर्म-बन्धन से बचना अनिवार्य है। बन्धन से बचने का उपाय है—क्रियाओ की विशुद्धि और निरोध। यही प्रत्येक आचार-शास्त्र की मूल भित्ति है।

आत्मा का अस्तित्व, उसके विकास की अनेक सभावनाए, विजातीय तत्त्वो के सम्मिश्रण से उन शक्तियो का प्रतिघात और उनके निवर्तन से आत्मा के मूल रूप का प्रकटीकरण हर आत्मवादी दार्शनिक धारा को मान्य है। इसी मान्यता के आधार पर हर दार्शनिक परम्परा ने अपनी-

अपनी आचार-सहिताओ की सरचना की। वे प्रविधिया भिन्न हो सकती हैं, पर लक्ष्य सबका एक है, वह है चेतना का पूर्ण विकास या स्वरूपावस्थिति।

जैन साधना का सुदृढ आधार

यद्यपि सभी आचार-शास्त्रो का उदय आत्मा को केन्द्र मानकर ही हुआ है, लेकिन जैन दर्शन ने उसका जो सुदृढ आधार प्रस्तुत किया, वह अन्यत्र अप्राप्त है। जहा अन्य दार्शनिको ने आत्मा को केवल नित्य या केवल अनित्य माना, वहा भगवान् महावीर ने उसके नित्यानित्यत्व को स्वीकृति दी, क्योकि उन्होंने अनेकान्त के आलोक मे वस्तु-दर्शन किया था।

साधना का अर्थ है—आवरण से अनावरण की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर, विभाव से स्वभाव की ओर तथा अपूर्णता से पूर्णता की ओर जाना। यह तभी सम्भव है जब आत्मा मे किसी प्रकार के परिवर्तन का अवकाश हो। वह एकान्त नित्य आत्मा मे सम्भव नही, क्योकि उसमे उत्कर्ष से अपकर्ष और अपकर्ष से उत्कर्ष की कल्पना नही की जा सकती। एकान्त अनित्यता की स्थिति मे भी साधना अर्थहीन हो जाती है। इसलिए महावीर ने आत्मा की शाश्वत सत्ता को स्वीकार करते हुए भी उसकी परिवर्तनीयता का सिद्धान्त स्थापित किया। यह परिवर्तन का सिद्धान्त ही जैन आचार-शास्त्र की आधार-शिला है, जिसमे महावीर के आत्म कर्तृत्ववाद या पुरुषार्थवाद की स्पष्ट झलक है।

भगवान् महावीर ने दीर्घकालीन साधना की। अध्यात्म की गहराइयो मे उतरकर, उन्होंने आत्मा की सम्पूर्ण अर्हताओ को प्रकट किया। वे चैतन्य-जागरण की जिन-जिन प्रक्रियाओ से गुजरे, जिन-जिन पद्धतियो का आलम्बन लिया, वे प्रक्रियाए, पद्धतिया तथा उनकी अध्यात्म अनुभूतिया आगम साहित्य मे सुरक्षित हैं। उन्ही के आधार पर जैन साधना-पद्धतियो का पल्लवन हुआ।

जैन आगम-साहित्य का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है अध्यात्म। अत.

उसे साधने की प्रक्रिया के रूप मे साधकों के आचार का निरूपण प्रचुर मात्रा मे हुआ है। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचाराग, प्रश्नव्याकरण, उपासकदशा आदि ग्रन्थो मे उसका व्यवस्थित वर्णन प्राप्त होता है।

जैन आचार

जैन-साधना का प्रथम लक्ष्य है वृत्तियो का परिष्करण, ग्रन्थियो और कुण्ठाओ का विमोचन तथा अन्तिम लक्ष्य है—मोक्ष-प्राप्ति। उसके चार साधन हैं—

सम्यक् ज्ञान—ज्ञान की विशुद्धि। इससे सत्य का यथार्थ बोध होता है।

सम्यक् दर्शन—दृष्टि की विशुद्धि। इससे सत्य के प्रति रूचि श्रद्धा जागृत होती है।

सम्यक् चरित्र—आचरण की विशुद्धि। इससे सत्य का आचरण सुलभ हो जाता है।

तपोयोग—इससे आत्मा पर लगे विजातीय तत्त्व दूर हो जाते हैं। आत्मा अपने आप मे रमण करने लगती है।

सम्यक् ज्ञान और दर्शन जैन धर्म का वैचारिक पक्ष है तथा आचार-पक्ष है चारित्र एव तपोयोग। जैन आचार का विश्लेषण प्रस्तुत निवन्ध का प्रतिपाद्य है।

जैन आचार के दो रूप हैं—सवरयोग और तपोयोग। मनोविज्ञान की भाषा मे इसे निरोध और शोधन की प्रक्रिया कह सकते हैं। यह साधना विधि वहुत ही वैज्ञानिक है। मनोविज्ञान और शरीर-विज्ञान दोनो मे ही शोधन और निरोध का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शोधन-विहीन निरोध अन्दर ही अन्दर सडाध पैदा करता है और विना निरोध के शोधन भी कोई मूल्य नही रखता। वहा विजातीय तत्त्वो का आगमन रुकता नही है।

सवर योग भावी कर्म-वन्धन—विजातीय तत्त्वो के आगमन का निरोध करता है और तपोयोग आत्मा से चिपके विजातीय तत्त्वो का पूर्ववद्ध कर्मों का शोधन करता है। यह साधना की परिपूर्णता है।

जैन साधक दो श्रेणियो मे विभक्त है—साधु और श्रावक। जैन

आचार ग्रन्थो मे दोनो के लिए व्यवस्थित आचार-सहिताए निर्मित हैं। यद्यपि ये दोनो ही लक्ष्य के प्रति गतिमान हैं, दोनो की लक्ष्य-निष्ठा, सत्य-सधित्सा और अभीप्सा मे कोई अन्तर नही होता, अत दोनो की आचार-सहिता मे भी मौलिक भेद नही है। भेद केवल सामर्थ्य और गति की तीव्रता और मन्दता पर ही आधारित है।

साधु का आचार कठोर होता है। उनके सभी व्रत परिपूर्ण और निर्विकल्प होते हैं। उनका स्वीकार यावज्जीवन तक होता है। अत इन्हें महाव्रत कहते हैं। विशिष्ट सामर्थ्य और मनोबल से सम्पन्न व्यक्ति ही इनकी साधना कर सकते हैं। इतनी योग्यता और शक्ति सर्वसाधारण मे नही होती। अत भगवान् महावीर ने ऐसी सुलभ आचार-सहिता प्रस्तुत की, जिसका यथाशक्ति समाचरण करता हुआ हर व्यक्ति क्रमश लक्ष्य के निकट पहुच सके। ये व्रत अपूर्ण होते हैं। गृहस्थ साधक अपनी शक्ति के अनुसार देश-काल की सीमा से इनका स्वीकरण करता है। अत ये अणुव्रत कहलाते हैं।

मुनि की आचार-सहिता

जिस व्यक्ति की अनासक्ति और मुमुक्षा तीव्र होती है, तितिक्षा बलवती होती है, वह तीव्र गति से लक्ष्य की ओर प्रयाण करता है। गति की मन्दता उसे सहन नही होती। वह गृह त्यागकर मुनि-जीवन स्वीकार करता है। पाच महाव्रतो का जीवन भर निर्विकल्प पालन करने वाला मुनि कहलाता है। वे महाव्रत ये हैं—

१ अहिंसा महाव्रत—शारीरिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा तथा समता का आचरण करना।

२ सत्य महाव्रत—शारीरिक, वाचिक और मानसिक ऋजुता का अभ्यास तथा कथनी और करनी में समानता का आचरण करना।

३ अचौर्य महाव्रत—बिना अनुमति दूसरे की वस्तु को ग्रहण नही करना।

४ ब्रह्मचर्य महाव्रत—शारीरिक, वाचिक और मानसिक पवित्रता का

विकास और वासना-विजय।

५ अपरिग्रह महाव्रत—सग्रह-त्याग। ममत्व-विसर्जन।

ये पाच महाव्रत जैन मुनि की साधना के मूल आधार हैं। दीक्षा लेते ही ये यावज्जीवन के लिए स्वीकृत किए जाते हैं। लेकिन स्वीकार करते ही उनका पूर्ण विकास नही हो जाता। इसके लिए तीव्रतम प्रयत्न की अपेक्षा होती है। बार-बार अभ्यास करना होता है।

प्रश्न व्याकरण आदि आगम ग्रन्थो मे महाव्रतो को परिपुष्ट करने के लिए पच्चीस भावनाओ का वर्णन आता है। "पुन पुन अभ्यसन भावना" —लक्ष्य-साधना के लिए जिनका पुन-पुन अभ्यास किया जाता है, वे भावनाए कहलाती हैं।

आयुर्वेदिक औषध-निर्माण-विधि मे भी भावना का बहुत महत्त्व रहा है। औषधि को शक्तिशाली बनाने के लिए किसी विशेष द्रव्य की अनेक बार भावना-पुट देकर उसे शतपुटी, सहस्त्रपुटी और लक्षपुटी बनाया जाता है। इससे वह बहुत प्रभावशाली हो जाती है। इसी प्रकार साधना के क्षेत्र मे भावना-योग का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। वृत्ति-शोधन और सस्कार-परिवर्तन के लिए यह शक्तिशाली माध्यम है।

महाव्रतो की परिपुष्टि और निष्पत्ति के लिए मुनि इन पच्चीस भावनाओ का अभ्यास करता है—

१ अहिंसा महाव्रत की पाच भावनाए—

(क) चलने मे जागरूकता।

(ख) मानसिक पवित्रता का अभ्यास।

(ग) वाणी की पवित्रता।

(घ) अपने धर्मोपकरणो के व्यवहार मे जागरूकता।

(च) अशन-पान सम्बन्धी विवेक।

इनसे कायिक, वाचिक और मानसिक—तीनो प्रकार की अहिंसा का विकास होता है।

२ सत्य महाव्रत की पाच भावनाए हैं—

(क) वाणी का विवेक

(ख) क्रोध का परिहार

(ग) लोभ का परिहार

(घ) भय का परिहार ।

(च) हास्य का परिहार ।

क्रोध आदि असत्य भाषण के निमित्त हैं। कारण के परिहरण से कार्य की निष्पत्ति स्वय रुक जाती है ।

३ अचौर्य महाव्रत की पाच भावनाए हैं—

(क) याचना का विवेक ।

(ख) उपभोग का विवेक ।

(ग) परिमित पदार्थों का स्वीकरण ।

(घ) पदार्थों की मर्यादा का निर्धारण ।

(च) साधर्मिको से याचना का विवेक ।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाच भावनाए है—

(क) स्त्री-कथा का परिहार ।

(ख) दृष्टि-सयम का अभ्यास ।

(ग) पूर्वानुभूत क्रीडाओ का विस्मरण ।

(घ) अतिमात्र आहार का परिहार ।

(च) स्त्री-समक्त स्थान का वर्जन ।

५ अपरिग्रह महाव्रत की पाच भावनाए—

(क) श्रोत्रेन्द्रिय सयम—शब्द के प्रति अनासक्त भाव ।

(ख) चक्षु-इन्द्रिय सयम—रूप के प्रति अनासक्त भाव ।

(ग) घ्राणेन्द्रिय सयम—गन्ध के प्रति अनासक्त भाव ।

(घ) रसनेन्द्रिय सयम—रस के प्रति अनासक्त भाव। स्वाद-विजय ।

(च) स्पर्शन-इन्द्रिय सयम—स्पर्श के प्रति अनासक्त भाव ।

पाच महाव्रतो की आराधना के साथ जैन मुनि के लिए रात्रि-भोजन भी निषिद्ध है। किसी भी परिस्थिति मे वे रात्रि मे भोजन या पेय स्वीकार नही करते ।

रात्रि-भोजन, मादक द्रव्यो का सेवन और मासाहार जैन श्रावक के लिए भी त्याज्य हैं।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

वैदिक क्रियाकाण्ड का मूल आधार प्रवृत्ति मार्ग था। स्वर्ग-प्राप्ति की आकाक्षा से लोग यज्ञादि अनुष्ठानो मे रत रहते थे। प्रवृत्ति की प्रवल चर्चा मे भगवान् महावीर ने निवृत्ति मार्ग का उद्घोप किया। उन्होने कहा—आत्मा का सहज धर्म प्रवृत्ति नही, निवृत्ति है। "न कम्मुणा कम्म खर्वेति वाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।" कर्म-प्रवृत्ति से कर्म-क्षय चाहने वाले अज्ञानी हैं। धीर व्यक्ति अकर्म-निवृत्ति से कर्म-क्षय करते हैं। फिर भी भगवान् महावीर ने प्रवृत्ति को एकदम नही नकारा। उन्होन पूर्ववद्ध कर्मो को क्षीण करने के लिए सत्प्रवृत्ति का पथ सुझाया और भावी अवन्ध के लिए निवृत्ति का। साधना के प्रारम्भ मे असत प्रवृत्ति का निरोध होता है और अन्त मे सत् प्रवृत्ति का भी। प्रवृत्ति और निवृत्ति मे सामजस्य स्थापित करते हुए जैन ग्रन्थो मे समिति और गुप्ति की साधना का विधान किया गया है। वे महाव्रतो की सुरक्षा एव पुष्टि मे सहायक होती हैं।

समिति

जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक अनिवार्य प्रवृत्तियो की समीचीनता को समिति कहते हैं। वे पाच हैं—

ईर्या—गमन योग—देखकर चलना।

भापा—वचन योग—विवेकपूर्वक निरवद्य वचन-प्रयोग।

एपणा—निर्दोष भिक्षा का ग्रहण तथा विवेकपूर्वक उपभोग।

आदान निक्षेप—सावधानी पूर्वक वस्तुओ का ग्रहण और निक्षेप।

व्युत्सर्ग—उत्सर्ग का विवेक।

गुप्ति

सत् और असत् दोनो प्रकार की प्रवृत्तियो के निरोध को गुप्ति कहते हैं।

मनगुप्ति—मानसिक प्रवृत्ति का निरोध।

⁶ वचन-गुप्ति---वाणी का निरोध।

काय-गुप्ति---शारीरिक प्रवृत्ति का निरोध।

प्रवृत्ति के साथ निवृत्ति का योग शरीरशास्त्र की दृष्टि से भी लाभप्रद है। प्रवृत्ति से हमारी शारीरिक और बौद्धिक शक्तिया क्षीण होती हैं। निवृत्ति से उनका पुन सचय होता है। साधु चर्या मे बार-बार कायोत्सर्ग का विधान है। जिसमे शारीरिक, मानसिक और वाचिक प्रवृत्तिया रुक जाती हैं। जैन साधु के लिए पाच महाव्रतो, पाच समितियो और तीन गुप्तियो का पालन अनिवार्य होता है।

तपोयोग

पातजल के अष्टाग-योग की तरह जैन-ग्रन्थो मे द्वादशाग तपोयोग का विधान है।

१ अनशन---उपवास आदि तपस्या करना।

२ ऊनोदरी---खान-पान आदि का अल्पीकरण तथा कषायो पर नियन्त्रण करना।

३ वृत्ति-सक्षेप---जीविका-निर्वाह के साधनो का सकोच करना।

४ रस परित्याग---स्वाद-विजय।

५ प्रतिसलीनता---इन्द्रिय और मन को बाहर से हटाकर, आत्मलीन बनाना।

६ काय-क्लेश---देहासक्ति का त्याग करना। शारीरिक कष्टो को समतापूर्वक सहना।

ये छह प्रकार के बाह्य तपोयोग हैं। ये साधना के विकास की पूर्व भूमिकाए हैं। इनके अभ्यास के बिना वृत्तियो पर नियन्त्रण कर पाना कठिन ही नही, असम्भव भी है। अनशन आदि शरीर को कष्ट देने के लिए नही किए जाते हैं, अपितु उनकी साधना से ममत्व-विसर्जन और तितिक्षा भाव का विकास होता है, जो कि साधना की पहली और अनिवार्य अपेक्षा है।

आन्तरिक तपोयोग के छह प्रकार हैं।

१ प्रायश्चित्त---अकृत्य की विशुद्धि के लिए तप आदि का अनुष्ठान

करना।

२ विनय—मन, वचन और काया की ऋजुता।

३ वैयावृत्य—सेवा करना और किसी की अध्यात्म-साधना मे सहयोगी बनना।

४ स्वाध्याय—सद्-ग्रन्थो का पठन-पाठन, आत्म-निरीक्षण।

५ ध्यान—मानसिक एकाग्रता का अभ्यास।

६ व्युत्सर्ग—बाह्य अपेक्षाओ से निरपेक्ष होना।

यह तपोयोग जीवन के सर्वांगीण विकास का हेतु है। इससे चित्त-वृत्तियो का नियन्त्रण और परिष्कार होता है। अस्वाद वृत्ति, स्वावलम्बन, सेवा, कष्ट-सहिष्णुता आदि से अध्यात्म मे पैठने की क्षमता व ऋजुता का विकास होता है। ये सारे साधना के अग हैं। साधु और श्रावक दोनो के लिए आचरणीय हैं। धृति, सहनन, मनोबल आदि की दृष्टि से मुनि की साधना के भी अनेक स्तर हैं। जिनकल्पी, स्थविरकल्पी, अभिग्रहधारी, प्रतिमा धारी आदि के रूप मे मुनिजन अपनी साधना मे उत्कर्ष लाते हुए आगे बढते रहते हैं। उसकी भी विभिन्न विधिया, प्रक्रियाए और आचार-सहिताए आगम ग्रन्थो मे उल्लिखित हैं।

जैन आचार के फलित

सवरयोग और तपोयोग की प्रत्यक्ष उपलब्धि है—चित्त वृत्तियो का परिष्करण। उससे साधक एक विशिष्ट मनोदशा की अनुभूति करता है। उसमे कतिपय विलक्षणताओ का अभ्युदय होता है, जैसा कि—

१ अप्रमत्तता—निरन्तर जागरूकता। उसका जागरण सूत्र होता है—"उट्ठिए णो पमायए"। जब मैं साधना के लिए कटिबद्ध हो गया हू तो फिर प्रमाद क्यो करू। प्रमाद साधना-पथ मे सबसे बडा शत्रु है।

२ उपशम—वह आवेगो-सवेगो और वासनाओ पर नियन्त्रण स्थापित कर लेता है। उसका मानसिक सतुलन प्रबल हो जाता है। उत्कर्ष और अपकर्ष की स्थितिया उसे विचलित नही कर सकती। उसकी मानसिक ग्रन्थिया, कुण्ठाए समाप्त हो जाती हैं। कोई भी

स्थिति उसके सामने उलझन पैदा नही करती।

३ समता—उसकी आत्मौपम्य की अनुभूति तीव्र हो जाती है। उसके सामने छोटे-वडे की भेद रेखा नही रहती। समस्त प्राणी जगत् के प्रति उसके हृदय मे करुणा का सागर लहराने लगता है।

४ सहिष्णुता—उसकी तितिक्षा शक्ति प्रगाढ हो जाती है। परिस्थितियो के उफान, तूफान और भूचाल उसे प्रकम्पित नहीं कर सकते। सम्मान-अपमान, हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति, सुख-दु ख आदि को समभाव से सहने की शक्ति उसमे अद्भुत हो जाती है। वस्तुत यह अहिंसा की सही कसौटी है।

५ अभय—वह सदा निर्भीक रहता है। स्वय अभय रहने वाला ही दूसरो को अभय बना सकता है। अभय अहिंसा का राजपथ है। अहिंसक न किसी से डरता है और न किसी को डराता है।

६ आत्मानुशासन—वह स्वय पर स्वय का नियन्त्रण करना जान लेता है। इसलिए इन्द्रिय-विजय, मनो-विजय, कषाय-विजय और वासना-विजय उसे सहज प्राप्त हो जाते हैं। वह वाह्य विधि-विधानो की जकडन से निर्मुक्त हो जाता है।

अस्तु, हमने पाया कि जैन आचार-शास्त्र साधक के लिए एक वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक साधना-विधि प्रस्तुत करता है। हर व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार उसका समाचरण करता हुआ मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास के नये आयाम उद्घाटित करता हुआ, अपनी मजिल को प्राप्त कर लेता है। सत्-चित् और आनन्दमय आत्मरूप की उपलब्धि ही उसकी सर्वोत्कृष्ट सफलता है।

२१

जैन आचार-शास्त्र (२)

गृहस्थ की आचार-संहिता

भगवान् महावीर को साधना के क्षेत्र में किसी प्रकार की प्रतिबद्धता मान्य नहीं है। उन्होंने कहा—व्यक्ति किसी भी कार्यक्षेत्र, परिस्थिति, सम्प्रदाय और परिवेश में रहता हुआ धर्माराधना कर सकता है। इसीलिए उन्होंने साधु के लिए जिस आचार-संहिता की संरचना की, गृहस्थ साधक को भी उसकी व्यवस्थित विधि बतलाई। धर्म-साधना के क्षेत्र में यह जैन धर्म की मौलिक और अद्वितीय देन कही जा सकती है। गृहस्थ साधक की आचार-संहिता का जितना सुन्दर और व्यवस्थित क्रम जैन-परम्परा में मिलता है, अन्यत्र नहीं मिलता।

अणुव्रत

गृहस्थ जीवन में रहते हुए व्यक्ति के लिए महाव्रतों का पालन करना असम्भव है। अतः उसके लिए अणुव्रतों के पालन का विधान किया गया है। अणुव्रत का अर्थ है—छोटे-छोटे व्रत या यथाशक्ति गृहीत व्रत। ये महाव्रतों की अपेक्षा छोटे होते हैं, इसलिए अणुव्रत कहलाते हैं। अणुव्रत पांच हैं—

१ अहिंसा अणुव्रत—स्थूल हिंसा का परित्याग।
२ सत्य अणुव्रत—स्थूल असत्य का परित्याग।

३ अचौर्य अणुव्रत—स्थूल चौर्य का परित्याग।

४ ब्रह्मचर्य अणुव्रत—अब्रह्मचर्य का परिमाण—स्वदार-सन्तोष-व्रत का पालन।

५ अपरिग्रह अणुव्रत—परिग्रह का सीमाकरण, ममत्व का विसर्जन।

अणुव्रतों के विकास और पुष्टि के लिए गुणव्रतों और शिक्षाव्रतो का विधान है। गुणव्रत तीन हैं—

१ दिग्व्रत—दिशाओ मे गमनागम की सीमा का निर्धारण।

२ उपभोग-परिभोग व्रत—वस्तुओ के व्यवहार की मर्यादा। इनसे सात्विक जीवन का अभ्यास होता है।

३ अनर्थ दण्ड विरमण व्रत—निष्प्रयोजन हिंसा का वर्जन। परिग्रह भी हिंसा का निमित्त बनता है। इस व्रत मे अहिंसा और अपरिग्रह—दोनो व्रत पुष्ट होते हैं।

अणुव्रतो की पुष्टि के लिए जिन व्रतो का बार-बार अभ्यास करना होता है, वे शिक्षाव्रत कहलाते हैं। वे चार हैं—

१ सामायिक—साम्यभाव—ममता का अभ्यास।

२ देशावकाशिक—कुछ समय के लिए अहिंसादि व्रतो की विशिष्ट साधना करना।

३. पौषधोपवास—एक दिन-रात के लिए साधु की तरह विशिष्ट सयम-साधना का अभ्यास करना।

४. अतिथि-सविभाग—मुनि को अपनी वस्तु का सविभाग देना। इनसे श्रावक मुनि की सयम-साधना में सहयोगी बनता है।

इन व्रतो का पालन करने वाला 'श्रावक' कहलाता है। ये व्रत शान्त, सुखी, सयमी और सात्विक जीवन के प्रेरक हैं। इनका उद्देश्य है—व्यक्ति घर मे रहते हुए भी श्रेष्ठ धार्मिक जीवन जीए और उन क्षमताओं का अर्जन करे, जिनसे वह साधना के अग्रिम सोपान तक पहुच सके। इनका आचरण हर व्यक्ति के लिए सरल और सुलभ है, क्योंकि इनमे महाव्रतो जैसी कडाई नही है। हर सामाजिक प्राणी के लिए इन व्रतो का यथाशक्य पालन अनिवार्य है। इनके बिना हिंसा, सग्रह और भोग की अति हो

अतिचार नहीं हो सकता।

ये व्रत केवल सिद्धान्तवादिता या कोरे आदर्शों पर अवस्थित नहीं हैं। ये व्यवहार की उर्वरा में प्रस्फुटित हुए हैं। ये जीवन-व्यवहारों को सरस और मधुमय बनाते हैं। सामाजिक जीवन की उच्चता और पवित्रता के लिए स्थिर आधार प्रस्तुत करते हैं। इनसे केवल वैयक्तिक जीवन ही नही, सामाजिक वातावरण भी प्रभावित होता है। इनके परिपालन से जो तथ्य फलित होते हैं, उनमें आदर्श समाज के निर्माण की स्वस्थ परिकल्पना सन्निहित है।

व्रतों के फलित

१ अहिंसा अणुव्रत के फलित—अहिंसा अणुव्रत को स्वीकार करने वाला साधक—
किसी के साथ क्रूर व्यहार नही करता।
अधीनस्थ व्यक्ति से अधिक श्रम नही लेता।
उनके भक्तपान का विच्छेद नही करता।
पशुओ के साथ निर्दय व्यवहार नही करता।
किसी की निर्बलता का अनुचित लाभ नही उठाता।
२ सत्य अणुव्रत के फलित—सत्य अणुव्रत को स्वीकार करने वाला साधक—
किसी का मर्म-प्रकाशन नही करता।
झूठे दस्तावेज या लेख नही लिखता।
किसी पर झूठा आरोप नही लगाता।
३ अचौर्य अणुव्रत के फलित—अचौर्य अणुव्रत को स्वीकर करने वाला साधक—
चुराई हुई वस्तु नहीं लेता।
राष्ट्रीय हितों का विरोधी व्यापार नही करता।
कूट-तोल, कूट माप नही करता।
४ ब्रह्मचर्य अणुव्रत का फलित—ब्रह्मचर्य अणुव्रत को स्वीकार करने वाला साधक—

ब्रह्मचर्य की यथाशक्ति साधना करता है।

इन्द्रिय-विजय और मनोविजय का अभ्यास करता है।

५ अपरिग्रह अणुव्रत के फलित—अपरिग्रह अणुव्रत को स्वीकार करने वाला साधक—

अति सग्रह नही करता।

अनावश्यक वस्तुओ का सचय नही करता।

शोषण नही करता।

किसी के अधिकारो का हनन नही करता।

शेप सात व्रतो के फलित भी अनेक सामाजिक और आर्थिक जटिल समस्याओ का सुन्दर समाधान प्रस्तुत करते हैं, जैसे अनावश्यक वस्तुओ के उपभोग का वर्जन। उपभोग मे होने वाले प्रमाद से वचने की मनोवृत्ति का विकास। फिजूलखर्ची और दिखावे की मनोवृत्ति पर नियत्रण। सयमी और समत्वमय जीवन जीने का अभ्यास। विसर्जन का अभ्यास। इन उदात्त भावनाओ के उदय से एक धार्मिक व्यक्ति के जीवन से पूरे समाज का वातावरण पवित्र, सुखद और सुन्दर वन जाता है। ये शान्त, सुखी और आनन्दमय जीवन के मूल मत्र हैं।

इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि महावीर की दृष्टि मे पवित्र जीवन की कल्पना का आधार कोई क्रियाकाण्ड नही, अपितु व्यवहार की ऋजुता है। नीति और सयम से अनुप्राणित व्यवहार आन्तरिक पवित्रता की प्रथम कसौटी है। जिसका व्यवहार शुद्ध नहीं, वह धार्मिक कहलाने का अधिकारी नही।

"धम्मो सुद्धस्स' चिहठई"—पवित्र जीवन ही धर्म का प्रतिष्ठान हो सकता है। जो धर्म व्यक्ति के व्यवहारो मे नही झलकता उससे किसी के लाभान्वित होने की कल्पना नही की जा सकती।

जैन श्रावक के उल्लिखित वारह-व्रत व्यवहार-शुद्धि के पोपक हैं। इनमे नीति, प्रामाणिकता, सयम, सदाचार और सात्विकता की प्रधानता है। जैन आगम-ग्रन्थो मे धृति और क्षमता की अपेक्षा से श्रावक-साधको के भी कई स्तरो का उल्लेख है। उनमे प्रमुख दो हैं—वारहव्रती श्रावक तथा प्रतिमाधारी श्रावक।

बारहव्रती श्रावक यथाशक्ति सवर और तप की आराधना से आत्म-विकास प्रारम्भ करता है और धीरे-धीरे लक्ष्य की ओर वढता है।

प्रतिमाधारी श्रावक विशिष्ट साधना का स्वीकरण कर चरित्र-शुद्धि के लिए विशेष जागरूक और तत्पर हो जाता है। वह साधना की उच्च भूमिका प्राप्त कर लेता है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाए हैं। जैन आचार-ग्रन्थो मे इनकी साधना-विधि, काल, प्रक्रिया आदि का व्यवस्थित निरूपण है। इनकी साधना करते-करते अन्तिम प्रतिमा मे एक गृहस्थ भी श्रमणभूत—साधु के समान वन जाता है।

गृहस्थ साधक के गुण

खेती के लिए वीज-वपन से पहले भूमि की तैयारी और अनुकूलता अपेक्षित होती है। वैसे ही साधना के वीज-वचन से पहले साधक की मनोभूमिका की तैयारी आवश्यक है। उसके विना साधना के वीज अकुरित नहीं हो पाते। उस भूमि के निर्माण-हेतु श्रावक के लिए कतिपय विशेष गुणो का समुल्लेख है। उनके धारण से ही वह व्रताराधना की योग्यता सपादित कर सकता है। वे ये हैं—

गृहीत व्रतो का सम्यक् पालन करना।
शील का आचरण करना।
बहुश्रुत साधर्मिको से सम्पर्क साधना।
बिना प्रयोजन किसी के घर न जाना।
व्यसन-मुक्त रहना।
आडम्बर और प्रदर्शन को प्रश्रय एव प्रोत्साहन नही देना।
मृदु एव प्रेमपूर्ण व्यवहार करना।
गुरुजनो की सेवा करना।
विनम्र और ऋजु व्यवहार करना।
दुराग्रह से बचना।
तप-नियम आदि का विधिवत् पालन करना।
शास्त्र-ज्ञान का अभ्यास करना।

उक्त गुणो के पल्लवन और उन्नयन से औरो के दिलो मे भी

धार्मिकता के प्रति अनुराग और धार्मिक के प्रति आदर तथा सम्मान की भावनाए जागृत होती हैं।

इस प्रकार गृहस्थ जीवन मे रहते हुए भी व्यक्ति इन व्रतो और प्रतिमाओ की यथाशक्ति सम्यक आराधना कर, लक्ष्य के निकट पहुच सकता है, अथवा उन क्षमताओ का अर्जन कर सकता है, जिनके आधार पर वह महाव्रतो की साधना भी अगीकार कर सके।